शांकर धर्म-दर्शन: एक आलोचनात्मक विश्लेषण

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक :
प्रो० डी० एन० द्विवेदी
अध्यक्ष दर्शन विभाग

प्रस्तुतकर्ता :
विनोद कुमार तिवारी

दर्शन शास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
1995

प्राक्कथन

अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों मे जीवन व्यतीत करने के लिए, बाध्य होने के कारण मनुष्य आदिकाल से ही कुछ विशेष अलौकिक सत्ताओं अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों मे विश्वास करता रहा है, जिसके फलस्वरूप उस प्रचलित अर्थ मे ' धर्म ' का जन्म हुआ है, जिस अर्थ मे आज हम सामान्यत इस शब्द को ग्रहण करते है । यही कारण है कि मानव-जाति के विकास के प्रारम्भिक काल से ही धर्म ने मनुष्य के जीवन मे बहुत व्यापक तथा महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । ससार की विभिन्न मानवीय सभ्यताओं का विकास इस बात का साक्षी है कि धर्म का मानव-जीवन के सभी महत्वपूर्ण पक्षों पर पर्याप्त प्रभाव पडा है । प्राचीन काल से ही मनुष्य के अधिकतर कर्म और विचार कुछ विशेष धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों द्वारा निर्धारित एव शासित होते रहे है । उसके जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सास्कृतिक आदि सभी महत्वपूर्ण पक्ष किसी न किसी रूप मे धर्म द्वारा अवश्य प्रभावित हुए है ।

मानव-जीवन पर धर्म के उपर्युक्त प्रभाव ने अनेक विशेष विचारों को जन्म दिया है, जिन्हे ' धर्म-दर्शन ' कहा जाता है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध ' आचार्य शकर के धर्म दर्शन का आलोचनात्मक विश्लेषण ' है । यद्यपि शकराचार्य के दर्शन पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इतना अधिक लिखा जा चुका है कि उसके पूर्ण ज्ञान का दावा करना, मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिए अह प्रदर्शित करना होगा, तथापि उनके धर्म-दर्शन के विविध पक्षों का विश्लेषण करने का पूर्ण प्रयास करना हमारा लक्ष्य है ।

आचार्य शकर का आविर्भाव ऐसी विषम सामाजिक परिस्थितियों के मध्य हुआ था, जब कि समाज मे पाखण्ड, बाह्याडम्बर, जादू-टोना जैसी अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हो चुकी थीं । आचार्य शकर ने सम्पूर्ण देश मे भ्रमण करके इन समस्त सामाजिक विसगतियों को दूर करने का वीणा उठाया तथा आस्था, विश्वास, श्रुतियों एव तर्कों को सुद्रढ भूमि पर हिन्दू धर्म (वेदान्त-धर्म) को प्रतिष्ठित किया । इस धर्म-दर्शन मे जीवन का जो सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह निर्विवाद रूप से सर्वोच्च सभव आदर्श है । पूर्ण सच्चिदानन्द की अखण्ड और शाश्वत उपलब्धि और वह भी इसी जीवन मे सभव बताना, इस धर्म-दर्शन की सबसे बडी विशेषता है । ' अशुभ की समस्या ' तथा ' नैतिक - दर्शन ' से सबंधित उनके विचार समस्त भारतवासियों के लिए आज भी उतने ही प्रासंगिक है, जितने कि आठवीं शताब्दी ई0 मे उनके अविर्भाव के समय थे । उन्होंने मनुष्य के नैतिक आचरण के शुभ तथा पापों के अशुभ परिणाम पर कभी सदेह नहीं किया है । व्यावहारिक दृष्टि से उनके लिए गुण और दोष सभी सत्य है । जो व्यक्ति अशुभ कर्म और विचार नहीं त्याग सकता, वह ब्रह्मज्ञान पाने का अधिकारी नहीं हो सकता । नैतिक तप के द्वारा ही मनुष्य ब्रह्म की ओर वढ सकता है । यद्यपि ब्रह्म ही सबका अन्तिम स्रोत आधार एव आश्रय है, किन्तु हमे शुभ और अशुभ का भेद उसी प्रकार स्वीकार करना पडेगा, जिस प्रकार हम ससार की अन्य वस्तुओं की अच्छाई-बुराई का भेद करते है ।

आचार्य शकर के धर्म-दर्शन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता, जिसके कारण अन्य दर्शनों के समर्थकों के अनेक आक्षेपों के बावजूद यह अडिग बना रहा,

यह है कि इसका आधार दृढ एव निर्दोष ज्ञान-मीमासा पर टिका हुआ है । इसकी ज्ञान-मीमासा का मूल विश्वास है कि आत्म तत्व चेतन-स्वरूप है और इसके प्रमाण की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वत स्वय सिद्ध एव स्वप्रकाश स्वरूप है । शकराचार्य के इन असदिग्ध तर्कों एव विचरों के समक्ष समस्त दार्शनिक स्वयमेव नतमस्तक हो जाते है । यही कारण है कि शकर का दर्शन ' समस्त भारतीय दर्शनों का शिरोमणि ' कहा जाता है । उनके विषय मे यह कथन सर्वप्रसिद्ध है कि -

> तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
> न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त-केशरी ।।

जिन महामहिम के पवित्र ज्ञान-दान से मैने दर्शनशास्त्र मे यत्किंचित् योग्यता अर्जित कर शोध-स्तरीय गहन अध्ययन कर सका तथा जिन्होंने अपने पूर्ण व्यस्ततम कार्यक्रमों से अमूल्य समय निकालकर मेरे शोध-कार्य मे विद्वतापूर्ण निर्देशन एव मार्गदर्शन कर स्तुत्य योगदान दिया तथा जिस महनीय गुरूकृपा से यह शोध-प्रबन्ध निर्बाध सम्पादित होकर पूर्णता को प्राप्त हुआ, उन पूज्यपाद गुरूवर्य प्रो0 देवकी नन्दन द्विवेदी (अध्यक्ष, दर्शन-शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद) जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर उनके महिमामय सम्मान को अल्पीकृत करना होगा । मै तो उनके श्री चरणों मे सदा नमन को ही इस जीवन की इतिश्री समझता हूँ ।

दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व अध्यक्ष, श्रद्धेय गुरूवर्य प्रो0 सगम लाल पाण्डेय जी की प्रबल सस्तुति के द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय मुझे आवटित किया गया तथा आपने यथावसर पर्याप्त निर्देशन एव सबल प्रदान कर इस कार्य को सुकरता प्रदान करायी । मै उन विद्वान् शिरोमणि प्रो0 पाण्डेय जी का चिर ऋणी रहूँगा । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को सपादित करने हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली द्वारा मुझे कनिष्ठ शोध-अध्येता ﴾जे0आर0एफ0﴿ छात्रवृत्ति प्राप्त हो रही थी, इस छात्रवृत्ति को वरिष्ठ शोध-अध्येता ﴾एस0आर0एफ0﴿ छात्रवृत्ति मे परिवर्तित करने के लिए प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय ﴾विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय﴿ तथा प्रो0 सभाजीत मिश्र ﴾विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र, गोरखपुर विश्वविद्यालय﴿ ने सतोषजनक एव अत्यन्त उत्साहवर्धक प्रगति आख्या लिखकर मेरे प्रयास की सराहना की । मै उपर्युक्त दोनों मूर्धन्य विद्वत्दार्शनिकों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ ।

इनके अतिरिक्त डॉ0 जगदीश सहाय श्रीवास्तव ﴾पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय﴿ डॉ0 रामलाल सिह ﴾रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय﴿ डॉ0 जटाशकर त्रिपाठी, डॉ0 नरेन्द्र सिह, डॉ0 हरिशकर उपाध्याय, डॉ0 उमाकान्त शुक्ल, डॉ0 गौरी मुकर्जी तथा डॉ0 श्रीमती मृदुला रानी प्रकाश ﴾समस्त प्रवक्ता, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय﴿ प्रभृति प्राध्यापकों का भी मै आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे समय-समय पर प्रेरणा एव सहयोग प्रदान कर, शोध-कार्य को पूर्णता की स्थिति में पहुँचाने का कष्ट किया ।

सम्प्रति, मार्यादा पुरूषोत्तम भगवान श्री राम एव उनके परम प्रिय अनुज श्री भरत के मिलन की पुण्य-पावन भूमि मे स्थापित चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट मे कार्यरत डॉ0 योगेश चन्द्र दुबे (प्रवक्ता, जीवनादर्श विभाग), डॉ0 कपिलदेव मिश्र (प्रवक्ता, इतिहास विभाग) तथा श्री योगेश उपाध्याय (वित्त एव लेखा-नियन्त्रक) इन अग्रज-त्रय ने इस अकिचन को इतना अधिक स्नेह-सबल प्रदान किया कि इनका स्नेह-ऋणी मै, अहर्निश चिन्तन करता रहता हूँ कि भगवान श्रीराम ने भी अपने प्रिय अनुज को इसी प्रकार का स्नेह-सबल इस तपस्थली मे प्रदान किया होगा । ऐसे उदार चेता एव परम स्नेही तीनों अग्रजों को किन शब्दों मे आभार व्यक्त करूँ, रिक्तता का अनुभव कर रहा हूँ, तथापि प्रभु कामतानाथ से यही प्रार्थना है कि यावज्जीवन मै इनके स्नेह का ऋणी रहूँ ।

इस लोक मे मातृ ऋण एव पितृ ऋण से कोई भी मुक्त न हो सका, तो मै अधम इससे किस प्रकार मुक्त होने के विषय मे सोच सकता हूँ ? क्योंकि जिस स्वर्गादपि गरीयसी, ममतामयी मा स्वर्गीया श्रीमती गुलाबादेवी तथा जिस महनीय पितृचरण प0 श्री त्रिभुवन दत्त तिवारी के स्नेहासिक्त वात्सल्य मे, मै पालित-पोषित हुआ तथा जिन्होंने मेरे अध्ययन के प्रति सदैव ममत्वपूर्ण प्रेरणाए दीं, उनके प्रति कृतज्ञता अथवा आभार प्रदर्शित करना उनके गरिमामण्डित स्थान की उपेक्षा-मात्र प्रतीत होती है । ईश्वर मुझे सौ जन्मों मे भी उनके ऋण से मुक्त न करे तो भी मै अपने को धन्य मानूँगा । पुनश्च जिस महामना ने अपने सम्पूर्ण सुखों का परित्याग करके, मेरी ही खुशी मे अपनी सम्पूर्ण खुशियों का स्वप्न सजोये हुए, अहर्निश मेरे

उत्कर्ष की पराकाष्ठा मे ही अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया हो, उन पितृव्य-चरण, पूज्यपाद श्री भगौती प्रसाद तिवारी जी का भी चिर-ऋणी मानकर मै धन्य हूँ ।

इसी सन्दर्भ मे अपने समस्त सहोदर अग्रजों परम पूज्य सर्वश्री बच्चाराम तिवारी, श्री रामसेवक तिवारी, श्री अर्जुन तिवारी, श्री रामतिलक तिवारी तथा श्री लक्ष्मी नारायण तिवारी जी के श्री चरणों मे श्रद्धा-सुमन समर्पित करना, भला मै कैसे भूल सकता हूँ, जिनके परमत्याग, अमूल्य सहयोग, स्नेहपूर्ण भ्रातृत्व एव प्रेरणास्पद विचारों ने मेरे जीवन को सवारने मे कोई कोर-कसर नहीं छोडी । इनमे भी अतिशय स्नेही एव परम सम्मान्य अग्रज श्री अर्जुन तिवारी जी को विशेष रूप से नमन करता हूँ, जिनका कि मेरे बाल्यकाल से अध्ययनावधि पर्यन्त अतुलनीय सहयोग एव उत्साहवर्धन प्राप्त होता रहा । इनके अतिरिक्त मै अपनी धर्म पत्नी श्रीमती सुनीता तिवारी को भी धन्यवाद ज्ञापित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जो कि इस शोध-प्रबन्ध की पूर्णता मे मनसा वाचा एव कर्मणा समर्पित रहीं ।

अपने अन्तरतम एव अनन्य मित्र श्री अनिल कुमार पाण्डेय जी का बहुश आभारी हूँ, जिन्होंने निरन्तर पाँच वर्षों तक मेरे साथ रहकर इस शोध-प्रबन्ध के लिए यथोचित सलाह एव सहयोग प्रदान किया है । अन्य मित्रों- श्री यशवन्त सिह, श्री जय प्रकाश पाण्डेय, श्री दयाशकर तिवारी, श्री विजयधारी सिह, श्री अरूण कुमार सिह, श्री सत्य प्रकाश तिवारी, श्री अवधेश पाण्डेय, श्री मनोज कुमार सिह तथा श्री अवधेश त्रिपाठी (समस्त शोध छात्र इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के प्रति भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ । शोध-प्रबन्ध को टकित कराने

मे पूर्ण सहयोग देने हेतु श्री हरिश्चन्द्र पाण्डेय को साधुवाद देना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है । श्री राम प्रकाश जी भी धन्यवाद के पात्र है, जिन्होंने पूर्ण निष्ठा एव परिश्रम से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को टकित करने का कार्य सपादित किया ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के शीर्षक की व्यापकता एव गम्भीरता को देखते हुए मेरा यह प्रयास अत्यल्प एव अत्यन्त न्यून प्रतीत होता है, तथापि मेरी इस सारस्वत समर्चना से दर्शन-जगत् को यदि कुछ भी परितोष मिलता है, तो इसे मै अपने जीवन की सबसे बडी सफलता मानूँगा । इसमे जो कुछ भी बन पडा वह प्रभु की असीम कृपा का ही प्रसाद है तथा जो कमियाँ है, उन्हे मेरी बालकोचित बुद्धि का फल मानकर विद्वान् दार्शनिक समुदाय क्षमा करने का प्रयास करेगा ।

विनयावनत -

दिनाक 14 जनवरी, 1995
मकर सक्रान्ति,
इलाहाबाद ।

॥ विनोद कुमार तिवारी ॥
दर्शन-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद ।

विषयानुक्रमणिका

अध्याय - 1

विषय प्रवेश

आचार्य शंकर - धर्म एवं शंकर पूर्व धार्मिक दशा

अध्याय - 1

विषय प्रवेश -

(1) आचार्य शङ्कर-धर्म एव शाकर-पूर्व धार्मिक दशा -

श्री आचार्य शकर आज से बारह सौ वर्ष पूर्व जितने प्रासगिक एव अनिवार्य थे, आज की अलगाव वादी परिस्थितियों मे उतने ही अपेक्षित एव प्रासंगिक है । उनकी मेधा का लोहा उनके बाद के सभी भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक मानते रहे है । रामानुज, निम्बार्क, मध्व, बल्लभ, चैतन्य, भास्कराचार्य, विवेकानन्द, दयानन्द, अरविन्द तथा विनोवाभावे जैसे भारतीय दार्शनिक उनके सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन मे प्रवृत्त होकर भी उनके योगदान के प्रशसक है । विदेशी दार्शनिकों मे शापन हावर, विक्टरकाजिन, देकार्ते, स्पिनोजा, लाइबनित्ज, बर्कले, काण्ट, फिक्टे, शेलिग हेगल आदि शङ्कर के दृष्टि-सृष्टिवाद, मायावाद अद्वितीय सत्ता तथा जगत् के मिथ्यात्व सिद्धान्त से किसी न किसी रूप मे प्रभावित है । आधुनिक दर्शनशास्त्री रानाडे, डॉ0 राधा कृष्णन एव डॉ0 एस0के0 दास ने अपने-अपने ग्रन्थों मे पाश्चात्य दार्शनिकों के साथ शङ्कर के विचारों का साम्य-वैषम्य प्रस्तुत करते हुए उन्हे अद्वैत वेदान्त से प्रभावित बताया है ।

श्री शकर के प्रादुर्भाव के समय भारत सास्कृतिक ह्रास, राजनीतिक पराभव और धार्मिक एव वैचारिक टुकडों मे बटा हुआ था । बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त वैष्णव, सिद्धि योग वज्रयान, सहजयान, वाममार्गी, तन्त्रवाद, कापालिक, नीलपट, आजीवक, चार्वाक तथा लोकायतिक जैसे न जाने कितने अवैदिक मत-मतान्तरों के जाल मे हिन्दू जनता फसी हुई थी । पाचरात्र, सौर, गाणपत्य तथा स्कन्द मतों के अनुयायियों की सख्या भी कम नहीं थी । पुराणों मे समय-समय पर जो परिवर्तन

एव परिवर्धन हुए उसमे भी इन सम्प्रदायों का गहरा हाथ रहा है । ब्राह्मण शैव, वैष्णव भागवत आदि नामों से ही स्पष्ट है कि पूर्व प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों के कारण ये पुराण रूढ हो गये थे । ऐतिहासिक दृष्टि से 8 वीं शती तक इन सम्प्रदायों के ग्रन्थों, आचार्यो, प्रचारकों एव अनुयायियों का बोलबाला समूचे भारत मे था । महाभारत, रामायण, अष्टाध्यायी, वायुपुराण, मार्कण्डेय पुराण, महानिर्वाण तत्र तथा शिवभक्ति सिद्धि जैसे ग्रन्थों मे इन सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है ।

शाक्तों के पूर्व बौद्धों की कुत्सित आचार-पद्धति वज्रयान के रूप मे कनिष्क के काल प्रथम शती ई० से ही प्रकाश मे आ चुकी थी । अभारतीय प्रभाव से उपजी यह उपासना कालान्तर मे लकुलीश और कापालिक प्रचण्ड साधनाओं के रूप मे विकसित हुई । सातवीं शती का सम्पूर्ण साहित्य इनके आतक से आतकित है ।

शकर के आविर्भाव का भारत स्वच्छन्द भोग, वर्णाश्रम विरोध, पाखण्ड-प्रदर्शन तथा हठयोग साधानाओं के प्रचार का जो वीभत्स रूप प्रस्तुत करता है, वह सास्कृतिक और धार्मिक पराभव का सूचक है, उसमे हिन्दुत्व की उदात्त परम्पराओं की झलक नाममात्र की नहीं है । पुराणों द्वारा प्रवर्तित तत्र-विधा की जिन जटिल प्रक्रियाओं का प्रचलन हुआ, गुप्त युग के उत्तरार्द्ध मे ही उनमे विकार की मात्रा बलवती होती गई तांत्रिक उपासना के फलस्वरूप समाज मे जादू-टोना, मत्र, वशीकरण, उच्चाटन और नरबलि के अधविश्वासों का प्रचलन हुआ । उसी के परिणाम स्वरूप डाकिनी-शाकिनी, भैरव-भैरवी की विकराल उपासनाए प्रचलित हुई और मास-मदिरा तथा यौनाचार की स्वतत्रता बलवती होती गई । बौद्ध मठों

मे भी इसी वामपथ का बोल बाला था । शकर ने इन सभी अवैदिक मतों का खण्डन कर पचदेवोपासना के शुद्ध सात्विक उपासना भाव को प्रतिष्ठित किया । ब्रह्म सूत्र के परमत निराकरण प्रसग मे पाचरात्र, जैन, बौद्ध, साख्य, शैव, शक्ति आदि सभी मतों का उन्होंने खण्डन किया है किन्तु शिव, शाक्त, गणेश, सूर्य तथा विष्णु की उपासना का वैदिक स्वरूप प्रस्तुत कर स्मार्त-धर्म की नींव भी शकर ने ही डाली ।

डॉ0 गैरोला ने अपनी पुस्तक मे लिखा है 'कि-शकराचार्य वस्तुत स्मार्त मत के प्रमुख एव प्रबल समर्थक थे । उनके समय तथा उनसे पूर्व भी ऐसे अनेक भक्तिमत प्रचलित हो चुके थे, जो वर्णाश्रम धर्म के घोर निन्दक थे । शकराचार्य के उदय के कारण इन वर्णाश्रम विरोधी मतों की परम्परा क्षीण पडने लगी थी । इनके प्रौढ शास्त्रीय प्रभाव से जप, तप, उपवास, व्रत, यज्ञ, दान, सस्कार, उत्सव, प्रायश्चित आदि परम्परागत सस्कारों की पुन स्थापना हुई । उन्होंने विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति इन पचदेव की उपासना को प्रचलित किया । पचदेव-उपासना पर आस्था रखने वाला मत ही स्मार्त कहलाया जो कि स्मृतियों पर आधारित था। उन्होंने बहुव्यापी सनातन धर्मी समाज की आस्थाओं तथा परम्पराओं को पुनरूज्जीवित किया । इस प्रकार शकराचार्य सनातन धर्म के आधार-स्तम्भ माने जाने लगे ।'[1]

योग की दृष्टि से पचदेवों का सम्बन्ध पचभूतों से माना गया है।

आकाशस्याधिपो विष्णु अग्नेश्चैव महेश्वरी ।
वायोसूर्य क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिप ।।

---

1 भारतीय धर्म शाखाए और उनका इतिहास, पृ0 - 236-238 ।

अर्थात् आकाशतत्व का स्वामी विष्णु, अग्नितत्व की दुर्गा, वायु तत्व का सूये, पृथ्वी तत्व का शिव तथा जलतत्व का स्वामी गणेश है । ब्रह्माण्ड का एक-एक तत्व साकार ब्रह्म के एक-एक गुण का मूर्त रूप कहा जा सकता है। इस प्रकार पचदेवोपासना शाकर अद्वैत की विश्वात्मवादी दृष्टि के अधिक निकट है । पचदेवों को एक ही शक्ति का मूर्तरूप कहा गया है । पचदेव मण्डल के द्वारा एक ईश्वर तत्व की पचधा अभिव्यक्ति मानकर सर्वात्मवादी उपासना दृष्टि का प्रति पदिन शकर की मौलिक देन है । विभिन्न सम्प्रदायों मे विभाजित भारतीय मानस को एकता के सूत्र मे बाध लेने की ऐसी बौद्धिक तथा धार्मिक चेष्टा अन्यत्र देखने को नहीं मिलती । भारतीय दर्शन की ' अनेकता मे एकता ' खोजते रहने की प्रवृत्ति का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है ।

वस्तुत श्री शकर का मुख्य लक्ष्य था - अवैदिक दार्शनिकों को परास्त कर हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान तथा गीता, उपनिषद और वेदान्त की पुन प्रतिष्ठा । सर्वप्रथम उन्होंने दार्शनिक युक्तियों और अकाट्य तर्कों से हिन्दुत्व के विरोधियों को क्षीण किया और फिर भारतीय तत्व चिन्तन की साख्य, न्याय, वैशेषिक, योग तथा पूर्वमीमासा का विवेचन कर अद्वैत दर्शन की प्रतिष्ठा की । शकर से पूर्व आस्तिक-नास्तिक दर्शनों का जो जटिल सघर्ष हो रहा था, शकर को उसके बीच अपना मार्ग प्रशस्त करना था । उन्होंने कर्मकाण्ड का प्रतिरोध किया । मण्डन मिश्र के साथ हुए शास्त्रार्थ में कर्मकाण्ड की निस्सारता का प्रतिपादन है । इसी आधार पर शूद्र, नारी, ब्राह्मण सबको ज्ञानार्जन और ब्रह्मचिन्तन का समान अधिकार देकर शकर ने समतावादी विचारगत एकता के पक्षधर समाज की नींव डाली ।

शकर मत मे रूढिवादिता और अन्ध-विश्वास का अभाव है । उनका चितन मानव को जाति, धर्म, वर्ण और वर्ग विशेष की सीमाओं से ऊपर उठाकर सार्वभौम रूप प्रदान करता है । परवर्ती कर्मकाण्डी दार्शनिकों ने उन्हे इसीलिए ' प्रच्छन्न बौद्ध ' कहकर तिरस्कृत करने का असफल प्रयास किया था ।

आचार्य शकर ने हिन्दू धर्म के पुनरूद्धार के लिए देशव्यापी यात्राए की । पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की यात्राओं मे उनकी मार्गदर्शक श्रुति थी - माताभूमि पुत्रोऽह पृथिव्या ।' भारतीय इतिहास मे राजपूती युग राजनीतिक विखण्डन का युग कहा जाता है । हर्ष के बाद अलगाव की प्रवृत्तियाँ का प्राबल्य हुआ । प्रतिहार, राष्ट्रकूट, परमार, चौहान आदि तथा दक्षिण के चेदि, चेर, पल्लव, चोल, चालुक्य आदि राजवशों के समय छठी से बारहवीं शती तक विघटन एव विभाजन की प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हो गईं कि देश एक भूगोल होकर भी अनेक राज्यों मे बट गया । निरकुश एकतत्र, सामतवाद, स्थानीयता एव व्यक्तिवाद, राष्ट्रीयता एव देशभक्ति का ह्रास तथा राजनैतिक उदासीनता एव अनैतिक भोगवाद के कारण देश की सास्कृतिक एव धार्मिक अस्मिता नष्ट हो गई । शकर इसी समय खोयी हुई राष्ट्रीयता एव धार्मिक अस्मिता के पुनरूद्धार के लिए आगे आये ।

हर्ष युगोत्तर भारत पतनोन्मुख हिन्दू समाज की दिन प्रतिदिन बदलती और बिगडती विकृत कथा एव दुर्दशा का इतिहास है । शकर इसी किकर्त्तव्य विमूढता के बीच धार्मिक एकता और सास्कृतिक अखण्डता की रक्षा के लिए खड़े हुए । मैसूर मे श्रृगेरी, द्वारिका में शारदा, जगन्नाथ पुरी मे गोवर्द्धन तथा बद्रीनाथ

मे ज्योतिर्मठ की स्थापना का उद्देश्य, सम्पूर्ण भारत की एकता का प्रतिपादन तथा देशव्यापी धर्म की प्रतिष्ठा को स्थापित करना था । सैनिक सगठन के लिए निर्वाणी, निरजनी, जूना, अटल, अग्नि, आवाहन अखाडे बनाये तथा गिरी, पुरी, भारती, सागर, आश्रम, पर्वत, तीर्थ, सरस्वती, वन और आचार्य सज्ञक ' दशनाम ' सन्यासियों की परम्परा का प्रवर्तन कर सन्यास धर्म का अनुशासन किया । चार शाकर पीठों के आचार्य जगद्गुरू शकर कहलाते है । दशनाम सन्यासी और शकराचार्य दण्ड, कमण्डल, रूद्राक्ष तथा भस्म धारण कर श्रुति-स्मृति द्वार अनुमोदित धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद् तथा विवेक चूडामणि जैसे ग्रन्थों का व्याख्यान करके देश की जनता को हिन्दू धर्मोन्मुख करने हेतु निरन्तर घूमते रहते है । इतिहासकारों ने यह भी उल्लेख किया है कि शकराचार्य द्वारा स्थापित अखाडों एव आश्रमों ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए सशस्त्र प्रतिरोध भी किया है ।[1] परिवर्तित तथा बलात अन्य धर्मावलम्बी को हिन्दुत्व मे परिवर्तित कर इस विराट जाति की रक्षा की है । राष्ट्रीय एव धार्मिक एकता की ऐसी सुनियोजित परिकल्पना शकर से पूर्व नहीं दिखायी पडती । मध्यकालीन धार्मिक चेतना और राष्ट्रव्यापी उन्मेष, उस धार्मिक उदासीनता के युग मे शकर की सबसे बडी देन है । मुस्लिम और अग्रेजी पराधीनता के युग मे मध्यकालीन सत सगठनों ने जो हथियार बन्द आन्दोलन किया है, उनमे शकरानुयायी सतों की बडी भूमिका रही है । वैष्णव अखाडे, गोसाई विद्रोह, सतनामी एव सिख गुरूओं का विद्रोह मूलत धर्मरक्षा के लिए किया गया सशस्त्र धार्मिक आन्दोलन है । मुगलकालीन तथा मुगलोत्तर

---

1 सरयदुनाथ सरकार - भारतीय इतिहास

भारत मे मराठों, राजपूतों, बुन्देलों तथा सिखों के विद्रोह मे शकरानुयायी प्रचारकों का स्थान है । 1857 के विद्रोह की रूपरेखा बनाने वाले स्वामी विरजानन्द सरस्वती भी शाकर सम्प्रदाय के ही सन्यासी थे । 1856 मे मुनिक्कद पचायत की अध्यक्षता विरजानन्द जी ने ही की थी । 1855 के कुभ पर स्वामी पूर्णानन्द जी, जो 110 वर्ष के थे, नाना साहब, दयानन्द सरस्वती आदि को स्वाधीनता की प्रेरणा दी । इस प्रकार आद्यशकर की इन मानस-सन्तानों ने अपने आचार्य के स्वप्न को कभी खण्डित नही होने दिया ।

कतिपय लोग शकर मत को ' मायावाद ' मानकर ' जगत्मिथ्या ' का प्रचारक और अव्यावहारिक समझते है । धर्म, सस्कृति, अतीत गौरव राष्ट्रीय एकता और हिन्दू समाज के पुनरूद्धार के लिए आचार्य शकर के कार्य कितने सराहनीय है और आज भी वे कितने प्रासंगिक है, शायद इसका उन्हे ज्ञान नहीं है ।

गृहस्थ धर्म एव कर्म की महत्ता का प्रतिपादन आचार्य शकर ने सर्वत्र किया है । सासारिक अभ्युदय और उन्नति (प्रेम) के साथ अटल आनन्द (श्रेय) की प्राप्ति के लिए मनुष्य को सदैव सचेष्ट रहना चाहिए । विविध आश्रमों तथा वर्णोचित कर्म, निष्काम भाव से सम्पन्न होने पर ही आत्म प्राप्ति मे सहायक होते है । कर्ममुक्ति का तात्पर्य अकर्मण्यता या कर्मत्याग से नहीं है, अपितु कर्मफल की आकाक्षा से है । निष्काम भाव से सम्पन्न कर्म सत्व शुद्धि के हेतु होते है। सत्वशुद्धि या सुसस्कृत मन ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है । अत निष्काम कर्म का परिणाम ज्ञान है । फलाकाक्षा बधन का कारण है तथा निष्काम कर्मभावना

मुक्ति का कारण है । गीता[1] की व्याख्या मे आचार्य शङ्कर ने लिखा है कि मोक्ष के लिए नैतिक एव निष्काम कर्म का सम्पादन आवश्यक है ।

भोगवाद और भौतिक सभ्यता के प्रति मोह आत्मज्ञान मे बाधक है । अत आध्यात्मिक मूल्यों की सिद्धि के लिए वेदान्तिक धर्म की आवश्यकता है । वेदान्तिक धर्म लोक हित और विराट् के लिए जीवन, सम्पूर्ण साधना का दूसरा नाम है । शम, दम, त्याग, तप, सतोप एव तितिक्षा धर्म के वैयक्तिक आधार है, तो शौच, सौहार्द, समत्व दृष्टि, दया, दान और निर्धनता सामाजिक आधार है। त्याग की भावना को सन्यासी धर्म बताकर आचार्य ने भेष एव आडम्बर की व्यर्थता सिद्ध कर दी है ।

अद्वैतवाद का आचार और विचार पक्ष बहुत ही सुदृढ है । विवेका नन्द और स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त के व्यावहारिक रूप का प्रतिपादन सवाश्रमों की स्थापना द्वारा करके यह सिद्ध कर दिया कि वेदान्त जीवन की विषमताओं का एकमात्र समाधान है । वह मनुष्य मे निहित आत्मशक्ति को जगाकर पृथ्वी को स्वर्ग मे परिणत करा सकने मे समर्थ है । इतना ही नहीं, जीवात्मा इसी लोक मे मुक्ति का अनुभव कर सकता है, उसका अन्य लोक-लोकान्तरों में गमन आवश्यक नही । वेदान्त के अतिरिक्त मानव को निसर्गत पाप का परिणाम मानने वाले दार्शनिक चाहे इस्लाम के हों चाहे ईसाइयत के - हीनता का बोध जगाते है, पर वेदान्त ' जीव और ब्रह्म ' की एकता प्रतिपादित कर जीव को हीनत्व-बोध से ऊपर उठाता है ।

---

1 ' न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते ' गीता 3/4

आचार्य शकर का उद्घोष है कि - धर्म के मूल तत्व, वेदों उपनिषदों एव श्रुतियों मे ही निहित है । ब्रह्म-विद्या की महत्ता से आचार्य एव जिज्ञासु दानों अपने धर्म का पालन करते हुए महान हो सकते है । यही कारण है कि- आचार्य शकर भारत के नव-निर्माता है, सास्कृतिक उत्थान के पुरोधा है, हिन्दुत्व के केन्द्र है, सूक्ष्म चेता दार्शनिक है, राष्ट्रीय एकता एव अविभाज्य मानवता के पोषक है, जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के व्याख्याता है, व्यापक धर्म के उद्घोषक और सकीर्ण धमो के खण्डनकर्ता है और सबसे ऊपर मानवीय गरिमा तथा मानव-मुक्ति के उद्धारक है । शकर के ऋण से हिन्दू जाति कभी उऋण नही हो सकती। उनके धार्मिक-आध्यात्मिक पुरूषार्थ का समूचा भारत ऋणी है ।

*****

अध्याय - 2

आचार्य शकर प्रणीत ग्रन्थ

अध्याय - 2

आचार्य शकर प्रणीत ग्रन्थ

शकराचार्य की कृतियों के रूप मे आज दो सौ से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते है, किन्तु इन सभी ग्रन्थों की रचना गोविन्द पाद के शिष्य आदि शकराचार्य ने ही की है, यह प्रमाणित नहीं हो पाता, क्योंकि परवर्ती शकराचार्यों ने भी अनेक रचनाए की और उन्होंने ग्रन्थों की पुष्पिका मे अपने को आदि शकराचार्य के समान गोविन्द पाद का ही शिष्य स्वीकार किया, अपने वास्तविक गुरू के नाम का निर्देश नहीं किया है । इससे आदि शकराचार्य के ग्रन्थों का निर्णय करना कठिन हो गया है ।

ग्रन्थों की अन्तरग परीक्षा से भी यह निर्णय किया जा सकता है कि कौन सी रचनाए आदि शकराचार्य की है, क्यों कि उनकी शैली नितान्त प्रौढ, प्रसादमयी और सुबोध है । आदि शकराचार्य द्वारा लिखित ग्रन्थों को हम चार भागों मे बाट सकते है - (क) भाष्य ग्रन्थ, (ख) स्तोत्र ग्रन्थ, (ग) प्रकरण ग्रन्थ, और (घ) तन्त्र ग्रन्थ ।

(क) भाष्य - ग्रन्थ

आचार्य शकर द्वारा प्रणीत भाष्य ग्रन्थों को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है - (अ) प्रस्थानत्रयी भाष्य (ब) इतर ग्रन्थों पर भाष्य । प्रस्थानत्रयी भाष्य के अन्तर्गत (1) ब्रह्मसूत्र भाष्य, (2) गीता भाष्य, और (3) उपनिषद् भाष्य आते है ।

(अ) प्रस्थानत्रयी भाष्य -

1 **ब्रह्मसूत्र भाष्य** - यह आचार्य की अद्वितीय कृति मानी जाती है। व्यासकृत ब्रह्मसूत्र परमलघु और संक्षिप्त है । बिना भाष्य का अवलम्बन ग्रहण किए, इनके वास्तविक रहस्य को समझना अअत्यन्त कठिन है । आचार्य शकर ने बडी सरल, सुबोध, मधुर, कोमल तथा प्रसन्न शैली मे ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया हे भाषा बडी प्रौढ तथा साथ ही प्रसादयुक्त है । वाचस्पति मिश्र जैसे उद्भट विद्वान और प्रौढ दार्शनिक ने आचार्य शकर के इस भाष्य को केवल ' प्रसन्न-गम्भीर ' ही भर नही कहा है, बल्कि इसे गगा जल के समान पवित्र बतलाया है ।

इस भाष्य को ' शारीरक - भाष्य ' भी कहा जाता है । 'शारीरक' शब्द का अभिप्राय है - शरीर मे निवास करने वाला 'आत्मा' । इन सूत्रों मे आत्मा के स्वरूप की मीमासा की गई है । इसीलिए इन सूत्रों को 'शारीरक-सूत्र' एव इस भाष्य को 'शारीरक-भाष्य' की सज्ञा दी गई है ।

2 **श्रीमतद्भगवद्गीता भाष्य** - इस भाष्य मे आचार्य शकर ने गीता की निवृत्तिमूलक और ज्ञानपरक व्याख्या की है । उन्होंने इस भाष्य मे यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति केवल ' तत्व-ज्ञान ' से ही होती है, ज्ञान और कर्म के समुच्चय से नहीं । इस भाष्य मे उन्होंने कर्म के सिद्धान्तों का खण्डन किया है ।

3 **उपनिषद् भाष्य** - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर और नृसिहतापिनी, इन बारह उपनिषदों

का शकर ने भाष्य किया । परन्तु केन, श्वेताश्वतर, माण्डूक्य और नृसिहतापिनी उपनिषदों पर लिखे गये भाष्यों पर विद्वानों को पूर्ण सन्देह है । वे इन चारों को आदि शकराचार्य की कृति न मानकर किसी अन्य शकराचार्य की कृति मानते है । इसका कारण यह है कि केनोपनिषद् पर एक-एक पद वाक्य भाष्य है और दूसरा वाक्य भाष्य । वाक्य भाष्य मे आचार्य शकर के प्रसिद्ध मत भी कभी-कभी भिन्न रूप मे तथा कभी विरूद्ध रूप मे वर्णित है । दोनों भाष्यों की व्याख्या मे पर्याप्त भिन्नता है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य मे विष्णु पुराण, लिग-पुराण, वायु पुराण आदि के लम्बे-लम्बे उद्धरण मिलते है । लम्बे-लम्बे उद्धरण देना शकराचार्य की भाष्य शैली नहीं है । माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य के प्रारम्भ मे मगलाचरण मिलता है, यह भी आचार्य की शैली के अनुरूप नहीं है । मगलाचरण के द्वितीय श्लोक मे छन्द-दोष भी है । इसी प्रकार नृसिहतापिनी उपनिषद् के भाष्य मे तान्त्रिक सिद्धान्तों की प्रमुखता है ।

उपनिषद् के भाष्यों की शैली बडी उदात्त, गम्भीर, सरल, सुबोध और आकर्षक है । अपने मत की पुष्टि के लिए आचार्य ने प्राचीन वेदान्ताचार्यों के सिद्धान्तों का उद्धरण दिया है । इस दृष्टि से वृहदारण्यकोपनिषद् का भाष्य सबसे अधिक विद्वतापूर्ण, व्यापक और प्राञ्जल है । ब्रह्म प्राप्ति के साधनों मे उन्होंने कर्मकाण्ड की उपादेयता का बड़ी युक्ति एव तर्क से खण्डन किया है । आचार्य शकर के प्रस्थानत्रयी के ये भाष्य प्रौढ़ शास्त्रीय गद्य के उत्कृष्ट उदाहरण है ।

(ब) इतर ग्रन्थों पर भाष्य

यद्यपि आचार्य शकर कृत इतर ग्रन्थों की भाष्य रचना पचास के लगभग बतायी जाती है, किन्तु वेभाष्य-ग्रन्थ किसी अन्य शकराचार्य की रचना है, आदि शकराचार्य की नहीं । आदि शकराचार्य की जो नि सन्दिग्ध रचनाए है, वे इस प्रकार है -

1 **विष्णुसहस्रनाम भाष्य** - इस भाष्य मे परमात्मा के प्रत्येक नाम की युक्ति-युक्त व्याख्या की गई है और इसकी पुष्टि मे उपनिषद्, पुराण आदि ग्रन्थों का प्रमाण उद्घृत किया गया है ।

2 **सनत् सुजातीय भाष्य** - धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के लिए सनत्सुजातीय ऋषि ने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया था, वह महाभारत के उद्योगपर्व[1] मे वर्णित है । इसे ' सनत्सुजातीय पर्व ' कहते है । इसी का वह भाष्य है ।

3 **ललितात्रिशती भाष्य** - ललितात्रिशती मे भगवती ललिता के तीन सौ नाम है । आचार्य शकर, ललिता के अनन्य उपासक् थे । इस ग्रन्थ पर उन्होंने विशद् पाण्डित्य पूर्ण भाष्य लिखा है । उपनिषदों तथा तन्त्रों से प्रचुर प्रमाण दिये गये है ।

4 **माण्डूक्य कारिका भाष्य** - गौड पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिकाए लिखी है । अद्वैत सिद्धान्त मे उनकी कारिकाओं का महत्वपूर्ण स्थान है । उन्हीं के ऊपर आचार्य शकर ने भाष्य रचना की है ।

---

1 **महाभारत - उद्योग पर्व अध्याय - 42 से 46 तक**

(स) स्तोत्रग्रन्थ

अद्वैतानुभूति आध्यात्मिक जीवन का परम और अन्तिम लक्ष्य है किन्तु इसमे प्रतिष्ठित होने के लिए जिस सोपान का अवलम्ब लेना पडता है, आचार्य शकर ने उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित की है । इसी कारण हम आचार्य को उपासना, भक्ति और पूजार्चना आदि के उत्साही प्रवर्तक के रूप मे देखते है । अत वे परमार्थत अद्वैतवादी होने पर भी व्यवहार क्षेत्र मे देवी-देवताओं, तीर्थो, पवित्रनदियों की उपासना और आराधना की सार्थकता को भलीभांति समझते थे । सगुण ब्रह्म की उपासना से ही निर्गुण ब्रह्म के क्षेत्र मे प्रवेश होता है । अत सगुण ब्रह्म की उपासना का विशेष महत्त्व है । लोक सग्रह के निमित्त आचार्य स्वय सगुण ब्रह्म की उपासना करते थे । वे परमउदारमना थे । साम्प्रदायिक क्षुद्रता उन्हे छू तक नहीं गई थी । उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि देवी-देवताओं की भावपूर्ण स्तुतियों की रचना की है । ये स्तुतियाँ ललित, कोमल, रसभाव से परिपूर्ण है । शकर के नाम से सम्बन्धित मुख्य स्तोत्रों की नामावली इस प्रकार है -

1 गणेश स्तोत्र - इससे सम्बन्धित 4 स्तोत्र है ।

2 शिवस्तोत्र - इससे सम्बन्धित 18 स्तोत्र है ।

3 देवी स्तोत्र - इससे सम्बन्धित 19 स्तोत्र है ।

4 विष्णुस्तोत्र - इससे सम्बन्धित 10 स्तोत्र है ।

5 युगल देवता स्तोत्र - इससे सम्बन्धित 4 स्तोत्र है ।

6 नदी तीर्थ विषयक स्तोत्र - इससे सम्बन्धित 5 स्तोत्र है ।

7 साधारण स्तोत्र - इससे सम्बन्धित 4 स्तोत्र है ।

इस प्रकार शकराचार्य के 64 स्तोत्रों का उल्लेख प्राप्त है । उन्हे शृगेरी मठ के शकराचार्य की अध्यक्षता मे श्री वाणी विलास से प्रकाशित ' शकर-ग्रन्थावली' मे स्थान दिया गया है । निम्नलिखित स्तोत्र आदि शकराचार्य की प्रामाणिक रचनाए मानी जाती है -

1 **आनन्द लहरी** - इसमे शिखरिणी छन्द मे 20 श्लोक है । यह भगवती देवी की अनुपम स्तुति है । इस स्तोत्र के सभी श्लोक बडे ही सरस चमत्कार-पूर्ण, भावपूर्ण और हृदयस्पर्शी है । इसकी इतनी अधिक ख्याति है कि इस पर विद्वानों ने 30 टीकाए लिखी है । एक टीका स्वय आचार्य रचित मानी जाती है ।

2 **गोविन्दाष्टक** - इस पर आनन्द तीर्थ की व्याख्या मिलती है । वाणी-विलास की शकर ग्रन्थावली मे यह प्रकाशित है ।

3 **दक्षिणामूर्ति स्तोत्र** - इस स्तोत्र मे दस शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इसके ऊपर वेदान्त के आचार्यो ने कई टीकाए लिखी है । सुरेश्वराचार्य की 'मानसोल्लास' नामक टीका अधिक प्रसिद्ध है । इस स्तोत्र मे वेदान्त और तन्त्र शास्त्र का अद्भुत सम्मिश्रण है । तन्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द भी इस स्तोत्र मे पाये जाते है ।

4 **दशश्लोकी** - इसके कई अन्य नाम भी है - चिदानन्दश्लोकी, चिदाननस्तवराज, निर्वाण दशक आदि । प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण है - ' तदेकोऽवशिष्ट शिव केवलोऽहम् ' । मधुसूदन सरस्वती ने ' सिद्धान्त बिन्दु ' नाम से इन श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या की है ।

5 **चर्पटपजरिका स्तोत्र** - इस स्तोत्र के अन्य नाम है - मोहमुग्दर, द्वादशमजरी और द्वादश पजरिका । प्रत्येक श्लोक का टेक पद है - ' भजगोविन्द ' भजगोविन्द भजगोविन्द मूढमते ' ।

6 **षट्पदी** - इसका अन्य नाम ' विष्णुषट्पदी ' है । इसकी लगभग छ टीकाए उपलब्ध है । एक टीका स्वय शकराचार्य की है और दूसरी टीका रामानुजाचार्य के मतानुसार की गई है ।

7 **हरिमीडे स्तोत्र** - इस स्तोत्र के ऊपर विद्यारण्य, स्वय प्रकाश, आनन्दगिरि तथा आदि शकराचार्य के द्वारा लिखित टीकाए उपलब्ध है । स्वय प्रकाश की टीका मैसूर से प्रकाशित हुई है ।

8 **मनीषा पचक** - पूरे स्तोत्र मे नौ श्लोक है, किन्तु अन्तिम 5 श्लोकों के अन्त मे ' मनीषा ' शब्द का प्रयोग होने के कारण, इस स्तोत्र का नाम 'मनीषा-पचक' पड गया । काशी मे चाण्डालवेशधारी विश्वनाथ के पूछने पर आचार्य शकर ने आत्मा के स्वरूप का बहुत सुन्दर निरूपण किया है ।

9 **सोपान पचक** - इसका दूसरा नाम 'उपदेश पचक' भी है । इन पाच श्लोकों मे वेदान्त के आचरण का विधिवत् उपदेश प्राप्त होता है ।

10 **शिव भुजग प्रयात स्तोत्र** - इसमें चौदह श्लोक है । माधवाचार्य ने ' शकर दिग्विजय ' नामक ग्रन्थ में बताया है कि इसी स्तोत्र के द्वारा आचार्य शकर ने अपनी माता के अन्तिम समय मे भगवान शकर की स्तुति की थी, जिससे

प्रसन्न हाकर उन्होंने अपने दूतों को भेजा था -

महादेव देवेश देवादिदेव,
स्मरारे पुरारे यमारे हरेति ।
ब्रुवाण स्मरिष्यामि भक्त्या भवन्त,
ततो मे दयाशील देव प्रसीद ।।

(द) प्रकरण ग्रन्थ

आचार्य शकर ने वेदान्त सम्बन्धी अनेक छोटे - छोटे ग्रन्थों की रचना की है । इन ग्रन्थों मे वेदान्त तत्व का सक्षिप्त निरूपण सुन्दर ढग से किया गया है । वेदान्त तत्व प्रतिपादक होने के कारण मे ग्रन्थ ' प्रकरण ग्रन्थ ' कहे जाते है । इन ग्रन्थों मे वेदान्त के साधनभूत विवेक, वैराग्य, त्याग, शम, दम, श्रद्धा उपरति, तितिक्षा आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है । साथ ही अद्वैत के मूल सिद्धान्तों की भी सक्षेप मे स्पष्ट व्याख्या की गई है । बात यह है कि आचार्य अद्वैत विद्या का पावन सन्देश सर्वसाधारण नक पहुँचा देना चाहते थे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने प्रकरण ग्रन्थों की रचना की । इसमे सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने भाष्य ग्रन्थों मे अद्वैत सिद्धान्तों की विशद् व्याख्या की । भाष्यों की भाषा अत्यन्त सुष्ठु एव प्राञ्जल है, पर उनकी युक्तियाँ और तर्क बहुत गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण है । अत सामान्य लोगों को उन्हे समझने मे कठिनाई पड सकती है, इसीलिए अनेक छोटे-छोटे प्रकरण ग्रन्थों की रचना करके वेदान्त शास्त्र को सर्वसुलभ बनाने की उन्होंने चेष्टा की ।

ऐसे प्रकरण ग्रन्थों की सख्या पर्याप्त है । इनमे से कुछ ग्रन्थों की शैली आचार्य के प्रामाणिक और नि सन्दिग्ध ग्रन्थों की शैली से नितान्त भिन्न है । किसी-किसी ग्रन्थ मे वेदान्त के सर्वमान्य सिद्धान्तों - आत्मा, अद्वैत, विवेक, वैराग्य, विषय - निन्दा का विशद् विवेचन है, परन्तु कतिपय ग्रन्थों मे अद्वैत विरोधी सिद्धान्त भी उपलब्ध होते है , और किसी ग्रन्थ मे व्याकरण सबधी त्रुटियाँ भी मिलती है । अत उन ग्रन्थों को आचार्य की कृति मानना, उनके साथ अन्याय करना होगा ।

आचार्य शकर प्रणीत प्रकरण ग्रन्थों की सख्या लगभग 40 मानी जाती है । किन्तु इनमे अधिकाश सन्दिग्ध है, जो असदिग्ध एव प्रामाणिक कृतियाँ प्रतीत होती है, उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

1 **अपरोक्षानुभूति** - इसमे 144 श्लोक है । इसमे साक्षात्कार के साधनों का उत्कृष्ट चित्रण किया गया है । साथ ही आत्मस्वरूप का हृदयग्राही वर्णन भी है । सुन्दर - सुन्दर दृष्टान्तों और युक्तियों के माध्यम से अद्वैत सिद्धान्त का सम्यक् निरूपण किया गया है ।

2 **आत्मबोध** - इसमे 68 श्लोक है । नाना उदाहरण देकर आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से पृथक् सिद्ध किया गया है । इसका तेरहवाँ श्लोक वेदान्त परिभाषा से उद्धृत किया गया है ।

3 **उपदेश साहस्री** - इस ग्रन्थ का पूरा नाम है - ' सकल वेदोपनिषद् सारोपदेश साहस्री ' । इस नाम की दो पुस्तके है - (1) गद्य प्रबन्ध, जिसमे गुरु

शिष्य के सवाद के रूप मे वेदान्त - सिद्धान्त का गद्य मे वर्णन किया गया है। (2) पद्य-प्रबन्ध, जिसमे वेदान्त के विविध विषयों पर 19 प्रकरण है । सुरेश्वराचार्य ने इसके अनेक श्लोकों को अपने नैष्कर्म्य सिद्धि मे उद्धृत किया है ।

4 **पचीकरण प्रकरण** - यह ग्रन्थ गद्य मे लिखित है । सुरेश्वरा चार्य ने इसके ऊपर वार्तिक भी लिखा है, जिस पर शिवराम तीर्थ का विवरण मिलता है ।

5 **प्रबोध सुधाकर** - इसमे वेदान्त के तत्वों का अत्यन्त सुन्दर विवेचना है । इसमे 257 आर्या छन्द है, जिनमे सासारिक विषयों की निन्दा और वैराग्य की प्रशसा की गई है । साथ ही ' ध्यान ' का मनोरम प्रतिपादन किया गया है।

6 **लघुवाक्य वृत्ति** - इसमे 18 अनुष्टुप् छन्द है, जिनमे जीवन एव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है । इस पर अनेक टीकाए भी मिलती है । एक टीका को स्वय आचार्य ने ही की है और दूसरी टीका रामानन्द सरस्वती की है । विद्यारण्य स्वामी ने इस पर ' पुष्पाजलि ' नामक टीका लिखी है ।

7 **वाक्य वृत्ति** - इसमे 53 श्लोक है । इसमे ' तत्वमसि ' नामक पदार्थ और वाक्यार्थ का विशद् विवेचन है ।

8 **विवेक चूडामणि** - इस ग्रन्थ में 581 श्लोक है । यह वेदान्तशास्त्र का परम उत्कृष्ट ग्रन्थ है । इसमें गुरू-शिष्य के लक्षण, विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, समाधान तितिक्षा, मुमुक्षुत्व, समाधि, जीवन्मुक्ति के लक्षणों आदि का

विशद् एव आकर्षक वर्णन किया गया है । आचार्य का यह ग्रन्थ सन्यासियों एव गृहस्थों दोनों मे खूब प्रचलित है ।

9 **शतश्लोकी** - इसमे वेदान्त सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन है । विज्ञानात्मा, आनन्द कोश, जगन्मिथ्यात्व और कर्ममीमासा, इन चार प्रकरणों मे यह ग्रन्थ विभाजित है ।

(य) तन्त्रग्रन्थ

आचार्य शकर ने दो तन्त्र ग्रन्थों की रचना की है - (1) सौन्दर्य-लहरी, और (2) प्रपचसार ।

1 **सौन्दर्य लहरी** - कतिपय विद्वान् इसे आचार्य का ग्रन्थ मानने मे सन्देह प्रकट करते है । परन्तु निश्चय ही यह आचार्य शकर की नि सन्दिग्ध एव उत्कृष्ट रचना है । काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त अभिराम एव सरस है । पाण्डित्य की दृष्टि से भी यह उतना ही प्रौढ तथा रहस्यपूर्ण है ।

सस्कृत के स्तोत्र साहित्य में इसका शीर्षस्थ स्थान है । इस ग्रन्थ मे तन्त्र के रहस्यमय सिद्धान्तों का विवेचन बडी कुशलता से किया गया है । इस महत्वपूर्ण कृति पर 35 विद्वानों ने टीकाए लिखी है, जिनमे लक्ष्मीधर भास्कर राय, कामेश्वर सूरि तथा अच्युतानन्द की व्याख्याए प्रमुख है । इस ग्रन्थ मे सौ श्लोक शिखरिणी छन्द में है । इन श्लोकों में काव्य तथा तान्त्रिकता का अपूर्व सामञ्जस्य दिखायी पड़ता है ।

2 **प्रपञ्चसार** - यह तान्त्रिक परम्परानुसार आदि शकराचार्य की रचना मानी जाती है । पद्मपाद ने इसकी ' विवरण ' नामक टीका भी लिखी है । इससे यह सिद्ध होता है कि यह आचार्य शकर की ही कृति है । अद्वैत वेदान्त के पण्डितों ने भी इसे आदि शकराचार्य की ही कृति माना है । ऐसा कहा जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना आचार्य ने कश्मीर मे किया था । आचार्य ने मगलाचरण मे देवी की प्रार्थना भी की है ।

*****

अध्याय - 3

शांकर धर्मदर्शन के स्रोत

अध्याय - 3

शाकर-धर्म दर्शन के स्रोत

आचार्य शकर के जीवन-चरित से स्पष्ट होता है कि उनका जन्म एव पालन पोषण मालावारी ब्राह्मणों नम्बूदरी परिवार मे हुआ था । यद्यपि उनके जन्म-काल को लेकर विद्वानों मे भले ही मतभेद हो, किन्तु इसमे कोइ सदेह नही कि उनका प्रारभिक जीवन अत्यन्त सुसस्कारित था । बाल्यकाल मे उन्होंने उस वैदिक पाठशाला मे शिक्षा पाई जिसके अध्यक्ष गौडपाद के शिष्य गोविन्द थे। कहा भी जाता है कि जब उनकी आयु आठ वर्ष की थी, तभी उन्होंने बडी व्यग्रता एव प्रसन्नता के साथ चारों वेदों को कण्ठस्थ कर लिया था ।[1] इस तथ्य से दो बातें स्पष्ट है, प्रथम, यह कि वे एक महती प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे और द्वितीय, यह कि उनके प्रारम्भिक सस्कार वैदिक सस्कृति के प्रभाव के अन्तर्गत निर्मित हुए थे । वे जीवन भर वेदों एव उपनिषदों की पूजा करते रहे । अतएव उनके विचारों पर वेदों का अत्यधिक प्रभाव पडा है और यह उनकी सभी कृतियों मे समान रूप से परिलक्षित भी होता है । यह हमारा दृढ विश्वास है कि शकर के धर्मदर्शन का मुख्य स्रोत उपनिषद साहित्य है । किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे तथ्य और कारक अवश्यक है जिनका प्रभाव भी उनकी अभिव्यक्ति विधि तथा विचारों पर पडा है । ये तथ्य इतने अधिक और भिन्न-भिन्न प्रकार के है कि उन सबकी खोज एव विवेचन करना सभव नहीं है । शकर के सम्पर्क

---

1 अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।
षोडशे कृतवान् भाष्य द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ।।

मे आने वाले सभी व्यक्ति, उनके द्वारा अध्ययन की गई सभी श्रुतियाँ तथा वह सारा वातावरण जिसमे वे विचरण करते रहे, प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप मे उनके ऊपर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालते रहे है । कतिपय विद्वान् आचार्य शकर के विचारों एव अभिव्यक्त विधियों पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव स्वीकार करते है, किन्तु वही अधिकाश इस प्रभाव का अस्वीकार करने क पक्ष मे भी अकाट्य तक प्रस्तुत करत है । अतएव इस विवादास्पद बिन्दु को यहीं छोड देना प्रासंगिक होगा ।

कतिपय दार्शनिक, ' योगवाशिष्ठ ' ग्रन्थ का प्रभाव भी शकर की रचनाओं पर स्वीकार करते है । ऐसे दार्शनिकों का मत है कि ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्धी विचार और व्यक्तिगत आत्मा के साथ ब्रह्म के तादात्म्य का सिद्धान्त विशेष रूप से उसी से प्रभावित है ।[1] डॉ0 बी0एल0 आत्रेय लिखते है कि- "शकर की विवेक चूडामणि, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी जैसी काव्यात्मक रचनाओं की तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शकर योगवाशिष्ठ से केवल प्रभावित ही नही थे वरन् उन्होंने उसकी शिक्षाओं को यथावत् ग्रहण किया है । इसमे सशय नहीं कि यदि योगवाशिष्ठ के लेखक को निश्चित रूप से शकर का पूर्ववर्ती न सिद्ध किया जा चुका होता तो दोनों की स्पष्ट समानता के आधार पर कहा जा सकता है कि योगवाशिष्ठ शकर से प्रभावित है, शकर योगवाशिष्ठ से नहीं । डॉ0 दास गुप्ता ने स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि योगवाशिष्ठ का काल हर हालत मे शकर का पूर्ववर्ती है ।[2] अतएव शकर पर योगवाशिष्ठ का प्रभाव

---

1 योगवाशिष्ठ, तृतीय अध्याय - 7, 20 चतुर्थ अध्याय - 22, 25 पचम अध्याय - 43, 26

2 इंडियन आइडियलिज्म पृ0 - 154

मानना तर्क सगत है ।

शकर के धार्मिक एव दार्शनिक विचारों पर आचार्य गोडपाद के पभाव का भी स्वीकार किए बिना नहीं रहा जा सकता है । आचार्य गोडपाद शकर के गुरू गोविन्द के गुरू माने जाते है । शकर ने गोडपाद की माण्डूक्य कारिका पर भाष्य लिख कर अपने को स्वय उनसे सम्बन्धित बताया है । यही तथ्य यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि शकर ने अपने पूर्ववर्ती गोडपाद के कुछ आधारभूत विचार ग्रहण किए है । गोडपाद और शकर दोनों केवल ब्रह्म को ही वास्तविक सत् मानते है । इसके अतिरिक्त गोडपाद और शकर दोनों के अनुसार व्यक्ति की आत्मा मूलरूप मे वही है, जो निरपेक्ष सत् या ब्रह्म है । वह अपने वास्तविक स्वरूप मे न बनती - बिगडती है और न जन्मती-मरती है । वह न कभी किसी बन्धन मे पडती है, न उसे मोक्ष की इच्छा होती है और न यथार्थ मे वह मुक्ति प्राप्त करती है ।[1]

इसके अतिरिक्त, शकर ने गोडपाद की तरह इन्द्रियानुभविक अस्ति -त्व के लिए 'माया' शब्द का प्रयोग किया है । यह तथ्य शकर को गोडपाद से प्रभावित होना सिद्ध करता है । इसमे सन्देह नहीं कि शकर ने इस शब्द का प्रयोग प्रमुखत एक ऐसी रहस्यात्मक शक्ति के लिए किया है, जिसके द्वारा सर्वशक्तिमान ईश्वर वस्तु जगत् का सृजन अथवा प्रक्षेपण करता है । किन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग स्वय

---

1 माण्डूक्य कारिका 2 32 और उस पर शाकर भास्य

विश्व के लिए भी किया है । इसका कारण गौडपाद का प्रभाव ही कहा जा सकता है, क्योंकि गौडपाद ने अपनी कारिका मे इस शब्द का प्रयोग कम से कम पन्दह श्लोकों मे किया है और किसी - किसी श्लोक मे दो बार भी किया है ।[1] यह साम्य होते हुए भी एक बात मे इन दोनों का विरोध है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती । गौडपाद का झुकाव वस्तुनिष्ठवाद की ओर है, जब कि शकर आत्मनिष्ठ विरोधी विचारों से किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं है । फिर भी यह स्वीकार करना पडता है कि गौडपाद कुछ सन्दर्भो मे अवश्य ही शकर के विचारों के स्रोत रहे होंगे ।

वस्तुत उपनिषद् शकर के धार्मिक एव दार्शनिक विचारों के मुख्य स्रोत है । यह मत समस्त अन्त बाह्य साक्ष्यों से प्रमाणित सिद्ध होता है । ब्रहमज्ञान के सम्बन्ध मे स्वय शकर ने उपनिषदों को सर्वोच्च और स्वतन्त्र आप्त वाक्य के रूप मे माना है । शकर के अनुसार ब्रह्म इन्द्रियानुभव से परे है और उसका प्रतिपादन ही उनके ब्रह्मवाद का मुख्य ध्येय है । उदाहरणार्थ - उन्होंने स्पष्ट रूप से माना है कि परमात्मा या ब्रह्म केवल वेदान्त द्वारा ही जाना जा सकता है[2] और शब्द ही ब्रहम का स्रोत है । वे मानते है कि वस्तुत केवल एक ही ऐसा परमसत् है जो सदा शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और मुक्त है तथा वह केवल उपनिषदों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है या जाना जा सकता है ।[3] उपनिषदों मे उपलब्ध

---

1 माण्डूक्य कारिका - 1, 7, 16, 17

2 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र |प्रस्तावना|

3. सिद्धान्त मुक्तावली, पृष्ठ - 23

ज्ञान पूर्ण एव परिपक्व है ।[1] शकर के उपर्युक्त वाक्य तथा ऐसे ही उनके अन्य अभिकथन उपनिषदों के प्रति उनका आदरभाव सिद्ध करते है ।

अपने भाष्य मे शकर ने इस विचार का निश्चित रूप से खण्डन किया है कि उनकी खोज का मुख्य विषय ब्रह्म उपनिषदों के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से जाना जा सकता है । वहाँ पर उन्होंने इस विषय पर की जाने वाली आलोचना पर भी विचार किया है । आलोचक कहते है कि अपनी आत्मा या ब्रह्म केवल उपनिषदों के द्वारा नही जाना जाता है क्यों कि वह स्वय चेतन है ।[2] इसके विपरीत शकर की मान्यता है कि स्वय चेतन आत्मा केवल अपनी मानसिक दशाओं की साक्षी होती है । वह सब की आत्मा और सब वस्तुओं मे व्याप्त नहीं प्रतीत होती है । वृहदारण्यक उपनिषद् की उस श्रुति का उद्धरण देकर जिसमे आत्मा के सत् स्वरूप को या ब्रह्म को ' औपनिषदीय ' कहा गया है[3], शकर ने अपने विपक्षियों को यह दिखलाने का प्रयत्न किया है । शकर ने अपने विपक्षियों को यह दिखलाने का प्रयास किया है कि विशेषण ' औपनिषद् ' केवल तभी सार्थक होगा जब ब्रह्म अथवा आत्मा को उपनिषदों के द्वारा ही जानने योग्य माना जाय[4] शकर के मत मे उपनिषदों के इसी तात्पर्य को भगवत्गीता तथा अन्य द्वितीय स्तर के प्रमाणवाली स्मृतियों मे प्रतिपादित किया गया है । यदि स्मृतियों मे उपलब्ध कोई विचार उपनिषदों के अनुकूल नहीं है तो उस विचार

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र 2, 1, 2
2 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र 1, 2, 4
3 शाकर भाष्य, वृहदारण्यक उप - 3, 9, 26
4 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र - 1 1 4

को प्रार्माणक नही मानना चाहिए ।[1]

आचार्य शकर ने सभी मुख्य उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिख है । ब्रह्मसूत्र उपनिषदों का ही सार है । भाष्यों का उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि शकर उनके विचारों का स्पष्टीकरण और प्रचार करना चाहते थे। अत उनकी रचनाओं को उनके द्वारा समझे गये उपनिषदों के विचारों का प्रतिपादन और तन्त्रीकरण समझना चाहिए । भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्यों मे उन्होंने उपनिषदों के जो अनेक उद्धरण दिये है, उन्हे देखकर हमारे मन मे शकर पर उनके अगाध प्रभाव के विषय मे कोई सशय नहीं रह जाता । अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि शकर के विचारों के स्रोत उपनिषद ही रहे है । इस तथ्य को पूर्वी साहित्य के अनेक विद्वान भी स्वीकार करते है ।

प्रो0 पाल ड्यूसन के मतानुसार शकर के विचारों का उपनिषदों के दर्शन से वही सम्बन्ध है जो फल का फूल से होता है । उन्हीं के ये शब्द है कि - ' भारतीय प्रज्ञान के वृक्ष पर उपनिषदों से अच्छा पुष्प और वेदान्त दर्शन से अच्छा कोई फल नहीं है । इस दर्शन तन्त्र का जन्म उपनिषदो की शिक्षाओं से ही हुआ और शकर ने इसे इसके उत्कृष्टतम स्तर तक पहुँचाया ।[2] प्रो0 मैक्समूलर के अनुसार भी शकर के दर्शन मे उपनिषदों के लगभग सभी बीज विद्यमान है । इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि - ' जब हम विचार करते है कि

---

1 शकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । ।

2 आउट लाइन्स ऑफ वेदान्त सिस्टम ऑफ फिलासफी, प्रीफेस

वदान्त दर्शन के सारभूत तत्वमीमासीय विचार कितने सूक्ष्म एव गूढ है तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि शकर ने उनको या उनके बीजों को प्राचीन उपनिषदों म मे खोज निकाला है । हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि वेदान्ती दार्शनिकों के बहुत से गूढ विचारों की जडे उपनिषदों मे निहित है ।'[1] एक अन्य स्थान पर उन्होंने यह भी कहा है कि ' वेदान्त दर्शन एक स्वतत्र दर्शन विधि है । यह उसकी एक असाधारण विशेषता है । किन्तु यह दर्शन उपनिषदों पर पूर्णत अवलम्बित है । वास्तव मे यही मत प्रो0 रानाडे का भी है । वे लिखते है कि - "वेदान्त दर्शन का उपनिषदों के दर्शन के साथ लगभग वैसा ही सम्बन्ध है जैसा अरस्तू और स्कूलमैन के दर्शन के बीच दिखायी पडता है ।[2] उनके अनुसार ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् वे आधार शिलाए है जिनपर समस्त वेदान्त दर्शन का भवन खडा है । किन्तु ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के सिद्धान्तों का साराश मात्र है और भगवद्गीता भी उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है जो उपनिषदों मे निहित है । अत आचार्य शकर ही नहीं वरन् लगभग सभी अनुपथी लोग शकर के धर्म-दर्शन का स्रोत उपनिषदों को ही मानना उचित समझते है ।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि शकर के विचार प्राचीन शास्त्रों से ही ग्रहण किए गये है, किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि शकर प्राचीन धर्मशास्त्रों के अन्धानुयायी नहीं है । वस्तुत शकर पर उपनिषदों

---

1 दि लेक्चर्स आन वेदान्त फिलासफी, पृ0 - 135, 136

2 दि कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी पृ0 - 5

का प्रचुर प्रभाव देखकर यही अनुमान लगाया जाता है, किन्तु इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि शकर किसी व्यक्ति अथवा किसी ग्रन्थ के अन्धभक्त नहीं है ।

किसी व्यक्ति अथवा ग्रन्थ का अन्धानुयायी अपने निर्णय का प्रयोग कभी नही करता । वह उसके विचारों को, चाहे वे सही हों अथवा नही, शब्दश ग्रहण कर लेता है । वह उनकी सगति या ससक्तता पर ध्यान दिये बिना ही, उन्हे उसी प्रकार स्वीकार कर लेता है, जिस प्रकार वे प्राप्त होते है । अन्धानुयायी व्यक्ति की आलोचना-शक्ति नितान्त सुप्तावस्था मे रहती है । वह बिना किसी सशय या विरोध किए उनका अनुसरण करता है, किन्तु शकर की स्थिति इससे बिल्कुल विपरीत है । उनकी अभिवृत्ति सत्य के सच्चे जिज्ञासु जैसी है । इसमे सन्देह नही कि वैदिक ग्रन्थों की प्रामाणिकता मे उनकी पूरी आस्था है, किन्तु उनकी आस्था अन्ध या बुद्धिहीन नहीं है । वह केवल तर्क पर आधारित ही नहीं वरन् तर्क का सामना करने के लिए सदा प्रस्तुत भी है ।

उपनिषदों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि उनमे दिया हुआ विश्व रचना सम्बन्धी विवरण बहुत असगत है क्योंकि उनमे से किसी मे ईश्वर द्वारा पहले आकाश[1] की रचना बताई गई है, किसी मे अग्नि[2] की और किसी मे प्राण[3] की । किन्तु शकर बडी ही सरलता एव निपुणता से इसकी व्याख्या करते हुए

---

1 तैत्तिरीय उपनिषद् - 2 ।

4 छान्दोग्य उपनिषद् - 4 2 3

3 प्रश्नोपनिषद् - 3 3

कहते है कि उपनिषदों का वास्तविक उद्देश्य ब्रह्म को सब पदार्थों का अन्तिम कारण सिद्ध करना है, न कि विश्व रचना प्रक्रिया का वर्णन करना । शकर कहते है कि जहाँ तक इन सब वस्तुओं के अन्तिम कारण का सम्बन्ध है, वेदान्त उसी एक ब्रह्म या चिदात्मतत्व का प्रतिपादन करता है और उपनिषद् इस अन्तिम कारण अथवा सृष्टा के सम्बन्ध मे कोई मतभेद नहीं रखते ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् पर शकर का भाष्य देखकर यह बात पुन प्रमाणित हो जाती है कि शकर उपनिषदों के अन्धानुयायी नहीं थे । इस उपनिषद् के एक मन्त्र मे कहा गया है कि प्रत्येक सर्ग के आदि मे कपिल मुनि उत्पन्न होते है और उनको स्वय परमेश्वर समस्त ज्ञानों से पुष्ट करता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् द्वारा की गई कपिल मुनि की यह प्रशसा शकर को कपिलमुनि का सृष्टि-रचना सम्बन्धी सिद्धान्त मानने के लिए विवश न कर सकी । शकर ने उसे केवल इसलिए अस्वीकार कर दिया कि उससे उनकी तर्क बुद्धि को सन्तोष नहीं होता ।

अपरोक्षानुभूति मे शकर एक स्थान पर साहसपूर्वक यह कह देते है कि "शास्त्रों मे जो ऐसा सुना जाता है कि आत्म-ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध नहीं छोडता, उसका अब मै खण्डन करता हूँ ।[1] क्या शास्त्रों का अन्धानुयायी ऐसा कह सकता है ?

शकर के लिए केवल शास्त्रों का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है । यदि उसे मुक्ति कारक ज्ञान बनना है तो उसे साक्षात् अनुभव के प्रमाण पर खरा उतरना

---

1 **अपरोक्षानुभूति - 90**

अध्याय - 4

शांकर धर्मदर्शन के विविध पक्ष

अध्याय - 4

शाकर धर्म दर्शन के विविध पक्ष

ब्रह्म परमसत्

सत् का सामान्य अर्थ -

विश्व के प्रति सामान्यत मनुष्य का दृष्टिकोण वस्तुवादी होता है । वह समझता है कि ससार मे अन्य वस्तुओं के साथ उसकी भी सत्ता है और वे वस्तुए उससे स्वतत्र है । वह अपनी चेतना को एक प्रकार का खोज-प्रकाश समझता है, जिससे ससार की समस्त वस्तुए प्रकाशित होती है और वह उनकी सख्या और प्रकृति जानने मे समर्थ होता है ।[1] प्रो0 मैक्समूलर के शब्दों मे - "अधिकाश मनुष्य जाति के लिए दृष्टिगत जगत् पूर्णत सत्य है, वे उससे अधिक सत्य कुछ भी नहा समझते है ।[2] ससार मे जो कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय है, वह सत् समझा जाता है और इसके विपरीत असत् ।[3] लोकमान्य तिलक[4] न भी स्वीकार किया है कि वृहदारण्यक उपनिषद् मे 'सामान्य दृष्टिकोण से जो कुछ देखने मे आवे सत् है' । इसी दृष्टिकोण से शकर ने मनुष्य के सामने उपस्थित और दृश्यमान वस्तुओं को सत् माना है तथा इसके विपरीत प्रकार की वस्तुओं को असत् कहा है ।[5]

---

1 इण्ट्रोडक्शन टू माडर्न फिलासफी, सी0ई0एम0 जोड पृ0 - 6

2 थ्री लेक्चर्स ऑन दि वेदान्त फिलासफी, पृ0 - 126

3 शाकर भाष्य, केनोपनिषद - 6, 12

4 गीता रहस्य, पृ0 - 217

5 शाकर भाष्य, गीता - 2 37

किन्तु सत् के विषय मे सामान्य दृष्टिकोण विश्वसनीय नही है। यदि जा कुछ दिखायी देता है, वही सत् होता तो हम भ्रान्त प्रत्यक्षीकरण और यथार्थ प्रत्यक्षीकरण मे भेद न कर पाते । यदि दिखाई देना मात्र सत् का मान दण्ड हो तो मृगमरीचिका का जल या रस्सी का सर्प कभी असत् न माना जा सकता। किन्तु एक अशिक्षित व्यक्ति भी इस प्रकार के भ्रान्त प्रत्यक्षीकरण पर आपत्ति कर सकता है क्योंकि उन वस्तुओं का पुन परीक्षण करने पर वे उसे प्राप्त नही होती । इस प्रकार भ्रान्ति और उसके बाद भ्रान्ति के आकर्षण की घटनाए असामान्य नही है । जो कुछ चमकता है, सब स्वर्ण नहीं होता है । सीप के टुकडे कभी-कभी चादी जैसे चमकत है और एक चन्द्रमा किन्हीं कारणों से दो दिखायी देने लगता है, किन्तु जब सीप का और चन्द्रमा के एक होने का ज्ञान किसी प्रकार हो जाता है तो एक अशिक्षित व्यक्ति भी किसी प्रकार स्वीकार कर लेता है कि चादी और चन्द्रमाओं की प्रतीति सत्य नहीं थी । प्रो0 जोड के शब्दों मे - ' विचार करने पर ज्ञात होता है कि हमारे अनुभवों मे बहुत सी ऐसी बातें है, जिनका बाह्य जगत मे अस्तित्व स्वीकार करना कठिन है । ऐसी प्रतीतियाँ जैस-स्पप्न, विभ्रम, कल्पना नशे मे कुछ का कुछ दिखायी देना इस बात का सकेत करती है कि जो कुछ हमारे अनुभव मे आता है, वह सब बाहर से ही प्राप्त होने वाला नहीं होता है । हमे वे भी बातें दिखायी दे सकती है जो हमारे सामने नहीं है। भ्रान्ति जैसी कोई अनुभूति अवश्य होती है । इसका तात्पर्य यह है कि कम से कम कुछ परिस्थितियों मे हमें सामान्य वस्तुवाद छोड़ना ही पड़ेगा'। शकर ने भी कहा कि - ' कोई वस्तु केवल इसलिए सत् नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह

दिखायी देती है । प्रतिपत्ति तो सत्यत्व और मिथ्यात्व की समान रूप से होती है ।

सत्य का मापदण्ड और कुछ भले ही हो किन्तु केवल दिखायी देना या वस्तु का प्रतीत होना कदापि नहीं है । एक समय जो वस्तुत कहीं दिखाई देती है किन्तु दूसरे समय यदि उसे वहाँ से हटाया न जाय तो भी वहाँ न दिखायी दे तो वह सत् कहे जाने योग्य नहीं है । कारण यह है कि जिस समय वह वहाँ दिखायी देती थी, तब भी वह वहाँ थी नहीं । सत् वस्तु वहाँ नि सन्देह विद्यमान होनी चाहिए । जो वस्तु विद्यमान नहीं है, वह सत् भी नहीं है । केवल ' प्रतीत होना ' सत् के लिए पर्याप्त नहीं है । एक अशिक्षित व्यक्ति भी, बिना विचार भले ही मानता हो कि जो वस्तुए दिखायी देती है, वही सत् है, इस बात मे अवश्य विश्वास करता है कि रज्जु मे सर्पवत् प्रतीति होना भ्रम है और इस प्रकार दिखायी देने वाली वस्तुए मिथ्या है । यह बात सही है कि वह सत्य का स्पष्ट रूप मे नहीं समझता और यदि उससे पूछा जाय कि सत्य क्या है तो सम्भवत वह यही कहेगा कि जो कुछ हम देखते है वही सत्य है । किन्तु उसका वास्तविक मन्तव्य यही होता है कि सत्य वही है जो व्याघात रहित हो । सम्भव है कि वह इतने सारे शब्दों सब कुछ न कह सके किन्तु वह अपने हृदय के अन्तर्तम मे सत्य का यही मापदण्ड स्वीकार करता है । स्वप्न का जागने पर और भ्रामक प्रतीति का यथार्थ ज्ञान होने पर बाध हो जाता है । इससे सिद्ध

हाता है कि वस्तु की सत्यता उसके व्याघात रहित अस्तित्व पर निर्भर करती है । सामान्य मनुष्य के मन मे गुप्त रूप से विद्यमान इस धारणा का उपयोग करते हुए शकर ने अपनी सत् की परिभाषा निर्मित की है ।

2 शकर के मत में सत् -

टी0एच0 ग्रीन के मतानुसार ' जो कुछ सत् है वह अपरिवर्तनीय है ।[1] इसी प्रकार आचार्य शकर कहते है कि - ' सत्य वह है जिसक विषय मे हमारी बुद्धि परिवर्तित न हो ।[2] लोकमान्य तिलक ने भी कहा है कि- "सत् शब्द का धात्वर्थ है, शाश्वत, स्थायी रहने वाला, जिसका कभी अनस्तित्व न हो अथवा तीनों काल (भूत, भविष्य एव वर्तमान) मे जिसका बाध न हो ।"[3] सत् शब्द जिससे ' सत्य ' बना है वस्तुत यदि व्यापक अर्थ मे लिया जाय तो उसका अर्थ ' अच्छा चरित्र ' और ' अच्छा व्यवहार ' आदि होता है, किन्तु जब वह परमार्थिक अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है तो निश्चय ही उसका अर्थ ' अपरिवर्तनीय ' या निर्विकार होता है । महाभारतकार कहते है कि - "सत्य वह है जो अव्यय, नित्य और निर्विकार हो ।"[4] वस्तुत सत्य की परिभाषा समस्त भारतीय आस्तिक साहित्य मे व्याप्त है ।

---

1 प्रोलीगेमना टू इथिक्स, पृ0 - 29

2 शाकर भाष्य गीता, 2 16 (यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत्सत्) ।

3 गीता रहस्य , पृ0 - 32

4 शान्तिपर्व, 162, 10

अतएव स्पष्ट है कि शकर भी सत् उसी को मानते है, जिसके वास्तविक स्वरूप मे कोई परिवर्तन न हो । शकर ही नहीं वरन् भारत के सम्पूर्ण प्राचीन शास्त्रों को यही विचार सामान्य रूप से मान्य है । अब, यदि हम इस माप दण्ड पर वस्तुओं की इमानदारी पूर्वक परीक्षा करते है तो देखेंगे कि वस्तुत सत् दिखायी देने वाली वस्तुओं मे से कोई भी वस्तु सत् नहीं है । ससार की कोई भी वस्तु अपरिवर्तनीय नहीं है । साधारण वस्तुओं की तो बात ही क्या बडे-बडे लौह-सेतु, विशाल प्राचीन, दीर्घकायपर्वत, गहरे सागर सूर्य और चन्द्रमा भी एक दिन अस्तित्व हीन हो जाऐगे । एक समय था जब ये कोई नहीं थे और एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब फिर ये कोई नहीं होंगे । वैज्ञानिकों के कथनानुसार ये सब सतत् परिवर्तन शील है । इस प्रतीयमान विश्व मे कोई भी वस्तु आज वैसी नहीं है जैसी कल थी । कोई भी ससीम वस्तु स्थिर नहीं है और न शाश्वत है । स्वत अस्तित्ववान और सब सम्बन्धों से रहित वस्तु ही अपरिवर्तनीय और शाश्वत हो सकती है, किन्तु इस ससार मे किसी भी वस्तु का न स्वतत्र अस्तित्व है और न वह सम्बन्धों से मुक्त है । अतएव कुछ भी अपरिवर्तनशील और शाश्वत नहीं है । यही कारण है कि शकर इस ससार को और इसकी सब वस्तुओं का असत् मानते है । शकर का विचार है कि ब्रह्म जो स्वत अस्तित्ववान् है, सम्बन्ध रहित है, अनन्त है, अन्तरतम आत्मा और सर्वाधार है, वही वास्तव मे सत् है ।

शकर के मत मे सभी लोगों में एक ही आधार पर दो प्रकार की बुद्धि पायी जाती है ।[1] उदाहरणार्थ जब हम अनुभव करते है कि घट है, पट है,

---

1 शाकर भाष्य, गीता - 2, 16

आदि तो शकर कहेगे कि एक ओर हम घट, पट आदि का प्रत्यक्षीकरण करते है और दूसरी ओर उनके अस्तित्व का अनुभव करते है । इन दो मे से प्रथम ता परिवर्तनशील है किन्तु दूसरा उसी प्रकार बना रहता है । वस्तुत कोई अनुभव चाहे वह आत्मनिष्ठ हो या वस्तुनिष्ठ, ऐसा नहीं है जिसके साथ 'है' की अनुभूति या प्रतीति सम्मिलित न हो । सब परिवर्तन, सब नामरूप और उनके सभी अनुभव चाहे वे सत्य हों या मिथ्या, उन सबमे वह अनुवर्तित है और वह सब का आधार तथा आश्रय है । यह परम और सर्वव्यापी अस्तित्व शकर के अनुसार वास्तविक और परमसत् है । यह अपरिवर्तनीय है क्योंकि इसका स्वतत्र अस्तित्व है । जो वस्तु परिवर्तनीय है या परिवर्तित हो सकती है वह स्वत अस्तित्ववान नहीं हो सकती और जिस वस्तु का स्वतत्र अस्तित्व होता है, उसमे परिवर्तन नही हो सकता ।

किन्तु बर्गसा जैसा दार्शनिक परिवर्तन को ही सत् मानता है जब कि सत् की ऐसी अवधारणा हमारी सामान्य विचारधारा के विपरीत ही नहीं बल्कि व्याघात पूर्ण और अर्थहीन भी है । परिवर्तन स्वत व्याघातपूर्ण है क्यों कि उसके अनुसार कोई वस्तु एक ही समय मे किसी स्थान पर होनी भी चाहिए और नहीं भी होनी चाहिए । यदि वह जैसी है, वैसी ही रहती है तो वह परिवर्तित नहीं होती और यदि वह परिवर्तित होती है तो वह जैसी है, वैसी नहीं रहती । और यदि बर्गसा के अनुसार हम यह कहे कि किसी वस्तु का परिवर्तन नहीं होता बल्कि परिवर्तन ही परिवर्तित हुआ करता है, तो हम स्वय नहीं समझ पाते कि

हम क्या कहते है । परिवर्तन का विचार हमारे मन को यह कल्पना करने के लिए प्रेरित करता है, कि कोई वस्तु है जो परिवर्तित होती है । साथ ही हमे यह भी कल्पना करनी पडती है कि कोई ऐसी वस्तु भी है जो उसका परिवर्तन करती है । परिवर्तन एक ऐसा कार्य है जो बिना किसी कारण के नहीं हो सकता। अपरिवर्तन ही कारण रहित हो सकता है । चूँकि परिवर्तन के लिए किसी कारण की आवश्यकता होती है और साथ ही उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता होती है, वह स्वत अस्तित्ववान नहीं हो सकता । सत् किसी वस्तु का परिणाम न होने के कारण स्वय स्वस्वरूप और अस्तित्ववान है । अत शकर का वास्तविक सत् अपरिवर्तनीय, स्वय अस्तित्ववान और स्वस्वरूप है । वही ब्रह्म कहलाता है ।

3 ' ब्रह्म ' शब्द का तात्पर्य -

' ब्रह्म ' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत की ' बृह् ' धातु से हुई है। ' बृह् ' का अर्थ है - वृद्धि को प्राप्त होना अथवा बढना या बडा होना । अत शकर के अनुसार यदि हम इसके धात्वर्थ पर विचार करे तो ब्रह्म शब्द का अर्थ चिर, शुद्ध आदि स्मरण आने लगता है ।[1] अपनी महानता के कारण निरतिशय अथवा भूमा ब्रह्म कहलाता है ।[2] ब्रह्म का यह नाम पडने का यही कारण है कि वह बृहत्तम और पूर्ण है । प्रो0 मैक्समूलर के अनुसार ' ब्रह्म ' शब्द का

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । । [ब्रह्म शब्दस्य अनुगमात्]

2 शाकर भाष्य केनोपनिषद । 5

मूल अर्थ है - ' वह जो विचार और शब्द के रूप मे फूट पडे ।[1] किन्तु वे इस बात पर अधिक विश्वास करते है कि यह शब्द आदिकाल मे यही अर्थ प्रदान नहीं करता था । उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह शब्द उसी धातु न बना है जिससे लैटिन का शब्द 'वर्बम' (Verbum) अथवा अग्रेजी का शब्द ' वर्ड ' (Word) बना है । इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए मैक्समूलर ने कहा है कि यदि हम ' ब्रह्म ' शब्द का अर्थ ' शब्द ' लें तो ब्राह्मण ग्रन्थों क अनक पद सार्थक हाने लगते है । चूँकि देवताओं के गुरू बृहस्पति, वाचस्पति भी कहलाते है, अत उनका यह विचार और भी दृढ हो जाता है कि ' ब्रह्म ' शब्द का मूल अर्थ ' वाक् ' या ' शब्द ' ही था । मैक्समूलर के शब्दों मे यदि ' बृह् ' का अर्थ मूलत विकसित होना था तो ' ब्रह्म ' का अर्थ होता ' जो विकसित हो ' अथात् ' वाक् ' या ' शब्द ' । इसी आशय से ब्रह्म शब्द वेदों मे प्राय प्रार्थना के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ यह भी हो सकता था कि वह जो सृष्टि के रुप मे विकसित हो । यह अर्थ उस समय मुख्य रूप से सटीक था, जब सृष्टि रचना के अर्थ मे नहीं ली जाती थी, बल्कि विकसित होने के अर्थ मे समझी जाती थी ।

' ब्रह्म ' शब्द के धात्वर्थ अथवा परम्परागत अर्थ के सबध मे प्रा0 ड्यूसन, रॉथ, ओल्डेनबर्ग, हॉग, हिस, ब्रेन्ड, राधाकृष्णन् आदि आधुनिक विद्वानों के विभिन्न मत है । उनके अनुसार ' ब्रह्म ' शब्द का प्रयोग सकल्प शक्ति, शुभसूत्र, प्रार्थना, सत्य, पवित्रमत्र, भायिक शक्ति, वैदिक कर्मकाण्ड, निरपेक्ष, महान

---

1 थ्री लेक्चर्स आन दि वेदान्त फिलासफी, पृ0 - 22

आदि अर्थों मे समय - समय पर होता रहा, किन्तु हमारे लिए उनका अधिक महत्व नहीं है । जहॉ तक इसके निर्णीत अर्थ का प्रश्न है विद्वानों के बीच अधिक मतभद नही है । उसे चाहे निरपेक्ष, महान या ससार सर्जक-शक्ति कहे, ' ब्रह्म ' शब्द अन्तत परम या निरपेक्ष सत् का ही बोधक है, जो सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति और विकास का आधार है । ब्रह्मसूत्रों के रचयिता बादरायण का यह निश्चित मत है कि उपनिषद् काल मे ' ब्रह्म ' शब्द का प्रयोग निरपेक्ष सत् के अर्थ मे किया जाता रहा । वह सम्पूर्ण ससार का उपादन और निमित्तकारण माना जाता है । उस समय उसका अर्थ - शब्द, प्रार्थना, मत्र आदि नहीं था । जहॉ तक शकर का प्रश्न है हम निश्चित रूप से कह सकते है कि ' ब्रह्म ' उनकी दृष्टि म महान, निरपेक्ष, स्वत अस्तित्ववान और सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है । किन्तु यह स्मरणीय है कि उन्होंने ' ब्रह्म ' शब्द का अर्थ दो भिन्न रूपों मे किया है- प्रथम मुख्य और दूसरा गौण । मुख्य अर्थ मे उसका प्रयोग निरपेक्ष परमसत् के लिए किया गया है जो पूर्णत निर्गुण, निराकार और अनिवर्चनीय है । गौण अर्थ मे उसका प्रयोग ईश्वर के लिए हुआ है जिसे हम सगुण ब्रह्म कह सकते है ।

4 निर्गुण और सगुण ब्रह्म -

उपनिषदों मे ब्रह्म का निरूपण विधि और निषेध दो विधियों मे किया गया है । विधि रूप में उसे सब कुछ और समग्र ससार के कारण का मूलस्रोत आदि बताया गया है और उसके विषय मे ऐसे ही अन्य पदों का प्रयोग किया गया है । निषेध रूप में- ' न यह न वह ' अर्थात् उसे ' नेति - नेति ' रूप

म प्रतिपादित किया गया है । प्रथम प्रकार के विधि - वाक्य नि सन्देह मगुण ब्रह्म के विषय मे है, जबकि दूसरे प्रकार के वाक्य उतनी ही दृढता मे निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक है ।

उपनिषदीय वाक्यों पर विचार करके शकर ने यह भेद स्थापित किया कि एक तो ब्रह्म वह है, जैसा कुछ अपने आप मे है और दूसरा जिसे हम अपने अनुभव जगत् से सम्बद्ध मानकर समझने का प्रयत्न करते है । पहले को व निर्गुण, निर्विशेष या परब्रह्म कहते है और दूसरे को सगुण, सविशेष और अपर ब्रह्म कहते है । उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म सत्[1], परमार्थसत्[2], परमार्थ तत्व[3] और भूमा[4] आदि भी कहलाता है । वह नित्य, कूटस्थ, एकमेव, सर्वदा एकरूप, भेद रहित, पूर्णत अपने स्वरूप मे स्थिर रहने वाला, अदृश्य, अज्ञेय, गुणातीत, पूर्णत शुद्ध, शान्त, निर्विकार, न भला-बुरा और न छोटा-बडा है । उसमे देश और काल की परिकल्पना नहीं की जा सकती । वह महान अज, अव्यय,अविनाशी, अमृत और सब भयों से मुक्त है । वह पाप-पुण्य से परे और कार्य-कारण से रहित है । भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल उसके स्वरूप मे प्रवेश नहीं पाते । न वह काल मे है और न काल उसमे है । जिन उपाधियों के माध्यम

---

1 शाकर भाष्य, गीता - 2 17

2 शाकर भाष्य, तैत्तिरीय, 2 6 (परमार्थ सत्य ब्रह्म)

3 शाकर भाष्य, गीता - 2 59 (परमार्थ तत्व ब्रह्म)

4 शाकर भाष्य, छान्दोग्य - 7 23

से हम वस्तुओं को समझते है, उनमे से कोई उसपर लागू नही होती । वह निर्विशेष होने के कारण अवर्णनीय है । परिभाषा मे जाति का विभाजन कर विशेष का निरूपण करना आवश्यक है, किन्तु ब्रह्म न किसी जाति मे आता है और न वह किसी विशेष की गणना मे आता है ।[1] वह परमसत् है और उसके बिना किसी वस्तु का स्वतत्र अस्तित्व नही है, जिससे उसका अन्तर बताया जा सके । यद्यपि वह देश-काल के परे है, किन्तु सर्वव्यापी है । वह सभी गुणों तथा उपाधियों से रहित है ।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि, वह ' कुछ नहीं है ' । ब्रह्म मे किसी गुण को स्वीकार करने का अर्थ उसके अस्तित्व या सत् को अस्वीकार करना नहीं है । वस्तुत जो कुछ भी अस्तित्ववान दिखायी देता है, वह सब स्वय ब्रह्म का ही अस्तित्व है । वह सदा स्वतत्र अस्तित्ववान है, इसलिए केवल वही सत् है । वह समस्त दृश्य-जगत् का मूल स्रोत, आधार और आश्रय है । उसका अस्तित्व ही सब वस्तुओं मे समान रूप से प्रकाशित होता है । वह हम सबका सर्वव्यापी आत्मा है । शकर का कथन है कि अपने अस्तित्व का निषेध न कर सकने की हमारी अनुभूति इसके अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण है ।[2]

वस्तुत अस्तित्व के लिए गुणों का होना आवश्यक नहीं है । उदाहरणार्थ - गुण स्वय गुणरहित कहे जा सकते हैं, फिर भी उनके अस्तित्व

---

1 शाकर भाष्य, माण्डूक्य उप0 - । 7

2 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र - । । ।

का निषेध नही किया जा सकता है । यदि गुण उनके गुणों के बिना बोधगम्य न होते तो हम उन्हे कभी जान ही न पाते । इस प्रकार के विचार कि बिना गुणों के, कोई वस्तु जानी ही नहीं जा सकती , स्वय निर्मूल है, क्यों कि तब तो एक गुण को जानने के लिए दूसरे गुण की आवश्यकता होगी और दूसरे को जानने के लिए तीसरे गुण की आवश्यकता पडेगी और यह क्रम अनन्त तक चलता रहेगा। अनवस्था दोष का प्रसग उपस्थित हो जाएगा । अतएव गुणों के ज्ञान की यह समस्या ब्रह्म को ' निर्गुण ' सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है ।

निर्गुण ब्रह्म के कतिपय प्रतिपादक यह भी कहते है कि सगुण ब्रह्म की अवधारणा स्पष्टत व्याघातपूर्ण है । उनकी दृष्टि मे यदि यह माना जाय कि ब्रह्म ' सगुण ' है तो यह भी बताना होगा कि उसके गुण उससे भिन्न है अथवा अभिन्न । यदि यह माना जाय कि ब्रह्म से उसके गुण भिन्न है तो यह स्वीकार करना पडेगा कि गुणों से रहित ब्रह्म अपने आप मे कुछ है अर्थात् निर्गुण है, और यदि गुण ब्रह्म से भिन्न नहीं माने जाते तो यह कहना गलत होगा कि ब्रह्म उन गुणों को धारण किए हुए है या वह सगुण है क्यों कि ऐसा मानने पर गुण उसी के अग हो जाते है और उस स्थिति मे ब्रह्म गुणों से युक्त नहीं कहा जा सकता । ब्रह्म का गुणों से तादात्म्य और ब्रह्म का गुणों को धारण करना दोनों एक दूसरे से असगत बातें है । यदि ब्रह्म गुणों का धारक है तो वह उसके तद्रूप नहीं हो सकता और यदि ब्रह्म गुणों के तद्रूप है तो वह उन गुणों का धारक नहीं कहला सकता । अत ब्रह्म को निर्गुण कहने मे कोई हानि नहीं, क्यों कि यह कहना कि ब्रह्म में गुण है या तो गलत मान्यता है या यह

कहने के समान है कि वस्तुत ब्रह्म गुणों का धारक ही नहीं है ।

वस्तुत किसी वस्तु मे गुण आरोपित करने का अर्थ है उसे सीमाबद्ध करना । अनन्त अथवा असीम सत्ता को गुणयुक्त स्वीकार करना सभव ही नहीं है । अत यदि शकर उपनिषदों का अनुसरण करते हुए अनिर्वचयनीय असीम ब्रह्म का निरूपण निषेधात्मक विधि से या अलकृत भाषा मे करते है तो वह वस्तुत उचित ही है । ब्रह्म परमसत् होने के कारण यद्यपि उस सब मे व्याप्त है, जिसका हम अनुभव करते है, या जिसके अस्तित्व की कल्पना कर सकते है, तो भी हमारे अनुभव या कल्पना की कोइे वस्तु ब्रह्म पर आरोपित नहीं की जा सकती ।[1] अनुभव मे आने वाली कोई वस्तु हो, वह ससीम होगी, अतएव असीम सदैव उसके परे होगा । अत यह कहा जाता है कि ब्रह्म सब वर्णनों को व्यर्थ कर देता है । वह न तो यह कहा जा सकता है और न वह (नेति - नेति) । ऐसी स्थिति मे उसे अनुभवातीत भी नहीं कहा जा सकता क्यों कि इस रूप मे उसका वर्णन करना भी उसे विचार की परिधि मे लाने का प्रयत्न ही कहा जाएगा । ब्रह्म न द्वैत है और न अद्वैत, न सत् है न असत्, वह अपने आप मे वही है जो वह है ।[2] इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उसके सम्बन्ध मे न कुछ विचार करे और न कुछ कहे ।

---

1 शाकर भाष्य, छान्दोग्य - 6 2 ।

2 शाकर भाष्य, गीता - 13 12

निःसन्देह ब्रह्म के सम्बन्ध मे हमारा चिन्तन उसके साक्षात्कार के सदृश नहीं हो सकता है, तो भी वह निरर्थक नहीं है । हम उस पर विचार करके ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की अवधारणा भले ही न बना सके तो भी उसके सम्बन्ध मे बहुत कुछ जान सकते है । प्रो0 मुकर्जी ने भी कहा है कि "निःसन्देह परमसत् अनिर्वचनीय है तो भी हम विचारों की उच्च भूमिका मे उसका वर्णन परोक्ष रूप मे कर सकते है, भले ही उसका शाब्दिक अर्थ वह न हो जो उसके बारे म कहा जाता है ।[1] शकर ने भी कहा कि असत् के द्वारा सत् का वर्णन हमारी बुद्धि पर अवलम्बित है और बुद्धि ही हमारे पास वह साधन है जिसके द्वारा हम वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति को समझने की क्षमता रखते है ।[2] तदनुसार अपनी बुद्धि या विचार का प्रयोग करके उन्होंने दृढतापूर्वक परमसत् या ब्रह्म को अपरिवर्तनीय और कूटस्थ बताया है । उसकी सत्ता या अस्तित्व निर्विकार है। अतः उनकी दृष्टि मे अस्तित्व या सत् ब्रह्म का विधेयात्मक रूप है । यह भी कहा जाता है कि अस्तित्व शुद्ध चिदात्मक है क्यों कि जब हम इस अपरिवर्तनीय या शुद्ध अस्तित्व पर विचार करते है और उसे बुद्धि द्वारा ग्रहण करना चाहते है तो वह हमे अपनी चेतना मे ही उपलब्ध होता है । हमारे अनुभव के विषय, जो भी हमे उपलब्ध होते है, सभी परिणाम है। इसलिए वे अस्तित्व मे आते है और समाप्त हो जाते हैं । हम देखते हैं कि उनमें से कोई भी अनुभव, हमारे अनुभव में सदा वर्तमान नहीं रहता । हमारी मानसिक स्थितियाँ ही नहीं, हमारा

---

1 दि नेचर ऑफ सेल्फ, पृ0 - 267

2 शाकर भाष्य, गीता - 2, 16

शरीर भी परिवर्तित होता रहता है । जिस प्रकार जागने पर स्वप्न की वस्तुए विलीन हो जाती है, उसी प्रकार जागृत अवस्था की वस्तुए स्वप्न काल मे नही रह जाती । सुसुप्तावस्था मे दोनों प्रकार की वस्तुए समान रूप से तिरोहित हो जाती है । किन्तु हमारी चेतना सदा वर्तमान रहती है ।[1] इसकी अनुपस्थिति न सभव है और न कभी अनुभव की जा सकती है । इसकी अनुपस्थिति का ज्ञान भी अपने मे इसे समाहित किए हुए है । यह परिणामी नहीं है, क्यों कि परिणाम रूप मे उसे कभी जाना ही नहीं जाता है । वस्तुत यह समस्त ज्ञान की आवश्यक प्राक्कल्पना है । वस्तुगत और आत्मगत सभी प्रकार के ज्ञान के पूर्व उसका होना अनिवार्य है ।

अतएव स्पष्ट है कि चित् और अस्तित्व दोनों का सदा एक साथ अनुभव होता है । हमारी चेतना की अपरोक्षानुभूति ही इसके अस्तित्व का अनुभव कराती है । चेतना, अस्तित्व से व्याप्त है और अस्तित्व जैसा कुछ जाना जाता है वह चेतना से ही ज्ञात होता है । हम एक को स्वीकार करे और दूसरे को अस्वीकार करे, यह कभी सभव नहीं है । एक को स्वीकार करने का अर्थ है, उसी के साथ दूसरे को भी स्वीकार कर लेना । इसी प्रकार, उनमे से किसी एक को भी पूर्णत अस्वीकार करना सभव नहीं है । एक के निषेध का अर्थ है- दूसरे का भी निषेध । इस प्रकार शुद्ध चेतना और शुद्ध अस्तित्व दोनों एक दूसरे के विरोधी नही, वरन् दोनों एक ही तत्वमीमासीय सत्ताए है ।

---

1 पचदशी, । 3 -7

शुद्ध अस्तित्व और शुद्ध चेतना को शुद्ध आनन्द भी कहा गया है । यदि सत् आनन्दमय न होता तो अभी तक किसी व्यक्ति ने उसे पाने की जिज्ञासा न की होती ।[1] प्रत्येक चेतन व्यक्ति सदा रहने (वर्तमान या जीवित रहने) की इच्छा रखता है, वह कभी नहीं चाहता कि वह न रहे । इस तथ्य से यह संकेत मिलता है कि सत् और चित् आनन्द से अभिन्न है । इसीलिए शंकर शुद्धसत्, शुद्धचित् और शुद्ध आनन्द को ब्रह्म या निरपेक्ष सत् का लक्षण मानते है ।[2] ब्रह्म के इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि असीम और अनिर्वचनीय होते हुए भी वह निश्चय ही एक यथार्थता है । यह बात अवश्य है कि वह हमारे अनित्य अनुभवों की तरह नहीं है, इसलिए उसके साथ ' शुद्ध ' शब्द जोडना पडता है, जैसे - शुद्ध चित्, शुद्ध सत् आदि ।

आचार्य शंकर ब्रह्म को अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति सम्पन्न भी मानते है । वह समस्त विश्व का उपादान और निमित्तकारण है । यदि ब्रह्म निरपेक्ष है और वस्तुत अद्वितीय है तो हमारे अनुभव मे आने वाले नानात्वपूर्ण संसार का मूल इसी मे खोजना पडेगा । दृश्य जगत् का उपादान और निमित्त कारण उससे भिन्न कुछ और मानने का अर्थ ब्रह्म की अद्वितीयता और निरपेक्षता को अस्वीकार करना होगा । इसीलिए शंकर ने यह स्वीकार किया है कि स्वयं ब्रह्म ही संसार की रचना करने वाली अनिर्वचनीय शक्ति, माया से विभूषित है

---

1 शांकर भाष्य, तैत्तिरीय - 2 7

2 शांकर भाष्य, छान्दोग्य 6 2, वृहदारण्यक 3 9, तैत्तिरीय 2 1, ब्रह्मसूत्र 1 1 आदि ।

और वही माया ससार की उपादान और निमित्त कारण है । ऐसी स्थिति मे शकर उसे सगुण ब्रह्म, अपरब्रह्म या ईश्वर कहते है ।[1]

शकर के अनुसार ईश्वर समग्र ससार का स्वामी और कर्मफल का दाता है । पर ब्रह्म के विपरीत अपर ब्रह्म सगुण और साकार है । शकर कभी-कभी ईश्वर के लिए ' ब्रह्म ' शब्द का प्रयोग भी करते है, क्यों कि ईश्वर जब ससार की रचना करने वाली अनिर्वचनीय शक्ति माया की उपाधि के साथ देखा जाता है तो वह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है । तो भी इन दोनों स्वरूपों मे भेद किया जाता है । ब्रह्म अपनी वास्तविक प्रकृति मे शुद्ध सत् और शुद्ध चित् है[2], जब कि ईश्वर सम्भूत सत् (Being - in - becoming) है और दृश्य जगत् मे जो कुछ है, था और होगा उस सबका तटस्थ द्रष्टा है। उसकी दो प्रकृतियाँ है जिन पर वह शासन करता है - एक तो जीव और दूसरी ससार की रचना करने वाली माया ।[3] वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और समस्त ससार का उद्भव, पालन और प्रलयकर्ता है ।[4] उसकी नित्य प्रतिष्ठा है और ससार के उद्भव, पालन और प्रलय का ज्ञान नित्य है । उसका ज्ञान सब बाधाओं और

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र । । 2 और 4 3 ।4

2 शाकर भाष्य केनोपनिषद् । 5

3 शाकर भाष्य गीता ।2 ।9

4 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । 5 (प्रस्तावना)
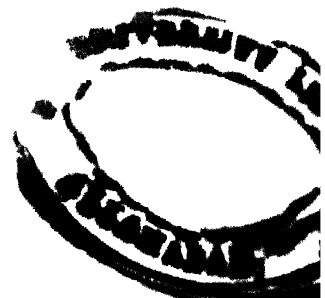
सीमाओं से मुक्त है । उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी इन्द्रिय या कार्य करने के लिए किसी शरीर की आवश्यकता नहीं है । वह स्वभावत नित्य, ज्ञानस्वरूप है जैसे सूर्य स्वभावत प्रकाश स्वरूप है ।[1] यदि यह पूछा जाय कि ससार रचना के पूर्व ईश्वर के ज्ञान का विषय क्या था तो शकर का उत्तर यही होगा कि उस समय, उसके ज्ञान का विषय वे अव्यक्त नाम और रूप थे, जिनको वह सकल्प के द्वारा व्यक्त करता है । समग्र ससार का मूल स्रोत स्वय होने के कारण ब्रह्म (ईश्वर) मे सर्वज्ञता, नित्यता, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वात्मभाव तथा ऐसे ही अन्य गुण उसमे स्वीकार किए जाते है । ईश्वर वैयक्तिक है जब कि ब्रह्म जो निरूपाधि सत्ता है, अवैयाक्तिक अथवा व्यक्तित्वातीत कहा जा सकता है । ईश्वर के लिए अपरिहार्य रूप से जीव और जगत की आवश्यकता है, जिन पर वह शासन करे । किन्तु ब्रह्म, सभी नाम, रूप और क्रियाओं से परे है । निर्गुण ब्रह्म निष्प्रपच है ।

ईश्वर भक्ति का विषय है, किन्तु निरपेक्ष ब्रह्म ऐसा नहीं है । ईश्वर के भक्त और साधक ईश्वर को ही प्राप्त होते है, किन्तु ब्रह्म को प्राप्त होने की बात बुद्धिगम्य नहीं है । शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्मफल दाता ईश्वर है । वह जीवों के पाप-पुण्य के अनुसार उसे फल देता है । वह हमारे सब कर्मों और उसके फलों को जानता है, किन्तु वह उनसे अप्रभावित रहता है, फिर भी वह हमारा अन्तर्यामी और प्रेरक है । वह अपने असीम ज्ञान के द्वारा यह

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र । । 5, श्वेताश्वतर 3 ।9

सब करने मे समर्थ है । शकर ईश्वर को नारायण, विष्णु, पुरूषोत्तम आदि नामों से भी सम्बोधित करते है । यह विश्वास किया जाता है कि भक्तों की रक्षा के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए ईश्वर करूणावश पृथ्वी पर अवतार लेता है ।[1]

पर ब्रह्म का ज्ञान पराविद्या कहलाता है और अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का ज्ञान अपरा विद्या या सगुण विद्या ।[2] अपरा विद्या मे शुभाशुभ तथा अन्य वस्तुओं का ज्ञान भी सम्मिलित है और उसे कभी-कभी अविद्या भी कहा जाता है ।[3] इसका कारण यह है कि वह निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म के ज्ञान से भिन्न है । ब्रह्म का ज्ञान ही अनादि बन्धनों से छुटकारा दिलाने मे समर्थ है । प्राचीनकाल मे यही ज्ञान सत्य ज्ञान समझा जाता था ।[4]

अतएव यह स्पष्ट है कि शकर ने ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किए है - एक तो यथार्थ, परम या निरूपाधि और दूसरा सोपाधि और बुद्धिगम्य । इसका कारण यह है कि एक तो सगुण और नाम रूप की उपाधि से परिसीमित है और दूसरा इसके विपरीत सभी प्रकार की उपाधियों से रहित है । एक-दो बार नहीं, शकर ने अनेक बार अपने प्राय सभी भाष्यों मे अपर, सगुण या सविशेष तथा पर,

---

1 शाकर भाष्य, गीता, (प्रस्तावना)

2 शाकर भाष्य, मुण्डकोपनिषद् । । 4-5

3 शाकर भाष्य मुण्डक - । । 4

4 सा विद्या या विमुक्तये ।

निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्म के बीच नि सकोच भेद किया है ।

शकर न इस बात का पूर्ण प्रयास किया है कि ब्रह्म के इन दो स्वरूपों को समझने मे कोई भ्रम न रह जाय । इसका यह आशय कदापि नही है कि हम दो प्रकार के ब्रह्म की भिन्न-भिन्न सत्ताए स्वतत्र रूप मे मान बैठे। परमसत् केवल एक है, और उसका वर्णन दो प्रकार से किया जाता है । एक रूप म वह उपाधियों से विभूषित है, और हमारा आराध्य देव है और दूसरे रूप मे वह सब प्रकार की उपाधियों से परे और अज्ञेय है ।[1] शकर के इस दृष्टिकोण का उल्लेख प्रो0 मैक्समूलर ने भी किया है । उनके अनुसार - "प्राचीन काल के वेदान्ती दार्शनिकों का अन्तिम लक्ष्य यही सिद्ध करना था कि जिसे हम सगुण ब्रह्म कहते है, वही वास्तव मे निर्गुण ब्रह्म भी है और पारमार्थिक दृष्टि मे केवल एक ही ब्रह्म की सत्ता है दो की नहीं ।[2]

ब्रह्म के दो स्वरूप स्वीकार करने मे और उसके साथ ही ब्रह्म या परमतत्व एक ही निरूपित करने मे जो स्पष्ट विरोध उपस्थित होता है, उसे अनुभव करते हुए शकर ने स्वय प्रतिपक्ष की ओर से यह आपत्ति उठायी है कि "ब्रह्म के पर और अपर दो भेद करने से क्या अद्वैत का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का खण्डन नहीं होता ?" फिर इसके उत्तर मे वे कहते है कि- "इस प्रकार की आपत्ति केवल यह विचार करने पर दूर हो जाती है कि [एक वास्तविक ब्रह्म] के नाम-रूप और उसकी उपाधियाँ अविद्या के कारण हैं । शकर के विचार से

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र । । ।।

2 श्री लेक्चर्स आन दि वेदान्त फिलासफी, पृ0 - 82 और 132-135
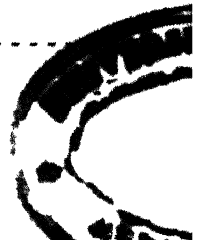
पर ब्रह्म स्वय दो प्रकार की विरोधी विशेषताए धारण नहीं कर सकता है । उनमे व्याघात होने के कारण यह स्वीकार करना असभव है कि एक ही वस्तु वर्ण आदि गुणों से सम्पन्न भी है और उन गुणों से रहित भी है ।[1] उपनिषदों का वास्तविक उद्देश्य सगुण या अपर ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं है, बल्कि उनका उद्देश्य उस निर्विकार पर ब्रह्म का प्रतिपादन करना है जो वर्णनातीत और अचिन्त्य है। उनके विचार से ईश्वर का ईशत्व नाम रूपात्मक उपाधि सापेक्ष है , जैसे महदाकाश का परिसीमन घट आदि उपाधियों पर अवलम्बित है ।[2] इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा है कि - "ईश्वर का स्वामी होना, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान होना सभी कुछ व्यक्ति की अविद्या के कारण उपाधिजन्य है, जबकि इनमे से कोई भी विशेषता निर्गुण ब्रह्म मे नहीं है, क्योंकि सभी उपाधियों से युक्त शुद्ध ज्ञान उन सबको समाप्त कर देता है ।[3]"

आचार्य शकर के इस कथन से स्पष्ट है कि वे पर ब्रह्म को ही परम सत् मानते है । सत् को अव्यय और स्वय अस्तित्ववान मानने के कारण उनकी यह मान्यता उचित भी है । अपर ब्रह्म शुद्ध सत् न होकर सम्भूत सत् (Being in Becoming) है । इसलिए उसे वास्तविक सत् नहीं कहा जा सकता । इसका कारण यह है कि सम्भवन का तत्व सत् की प्रकृति के विपरीत है । वास्तविक

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र 3 2

2 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र 2 1 14

3 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र 2.1 14

सन् सदा अपरिवर्तनीय होना चाहिए ।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि शकर अपर ब्रह्म मे किसी प्रकार की सत्ता स्वीकार नहीं करते । उनका ईश्वर या प्रभु उतना ही सत्य है, जितना दृश्य जगत् और जीवात्माए, जिनका वह स्वामी है । व्यावहारिक दृष्टि से इसकी सत्यता पर कभी सन्देह नहीं किया जा सकता । इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि शकर जगत सृष्टा और उसके स्वामी को केवल अभाव या भ्रम मानते है । वास्तव मे ब्रह्म का अस्तित्व ही प्रत्येक वस्तु मे प्रतिबिम्बित हो रहा है । हमारे अनुभव मे आने वाले ससार की सत्यता को इसीकारण अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। यही स्थिति ईश्वर के विषय मे भी है । शकर के अनुसार अपर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप या मूलतत्व पर ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है । साथ ही जब उसे सभवन के रूप मे देखा जाता है तो उसे असत् कहना पडता है क्यों कि सत् ही एकमात्र स्वतत्र अस्तित्ववान तत्व है ।

वस्तुत अपर ब्रह्म या सगुण ब्रह्म के सम्प्रत्यय की उतनी ही तर्कीय आवश्यकता है, जितनी निर्गुण पर ब्रह्म की । निर्गुण ब्रह्म यापरमसत् हमे आवश्यक रूप से स्वीकार करना पडता है क्यों कि उसके बिना अनुभव मे आने वाले जगत् की व्याख्या नहीं कर सकते है । किन्तु उस शुद्ध सत् से व्यक्त जगत् या सम्भवन के प्रतीति की कल्पना नहीं की जा सकती है । इसलिए हमे यह स्वीकार करना पड़ता है कि ब्रह्म एक ऐसी शक्ति से सम्पन्न है, जिससे सम्भवन की प्रतीति निर्मित हो सकती है । इसी तर्कीय आवश्यकता के कारण अपर ब्रह्म की अवधारणा स्वीकार

करनी पडती है । इस अपर ब्रह्म को ' सम्भवन मे सत् ' कहते है । शकर के शब्दों मे वह ब्रह्म माया नाम की अनिर्वचनीय शक्ति से सम्पन्न है । तो, भी निर्विकार और स्वतन्त्र अस्तित्व वाले वास्तविक सत् की अवधारणा यह मानने के लिए विवश करती है कि सभी सभवन असत् है । शकर जब सभी नाम-रूपों को अविद्या कहते है तो इसका यही तात्पर्य है कि परमसत् मे उनका कोई तात्विक स्थान नही है। अत अपर ब्रह्म की अवधारणा स्वीकार करते हुए भी शकर दृढतापूर्वक यही कहते है कि अन्तिम सत् एक और केवल एक है ।

5 स्वरूप एव तटस्थ लक्षण -

किसी वस्तु को उसके लक्षणों द्वारा ही पहचाना जाता है । लक्षण की सामान्य परिभाषा इन शब्दों मे की जाती है - 'असाधारण धर्मो लक्षणम् ' अर्थात् किसी वस्तु के असाधारण धर्म ही उसके लक्षण है ।[1] वेदान्त परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु के लक्षण दो प्रकार के होते है, एक तो वे जो वस्तु की वास्तविक प्रकृति का सकेत करते है और दूसरे वे जो वास्तव मे उसकी प्रकृति नहीं बताते बल्कि उसकी ओर अभिमुख करने का सकेत करते है । पहले प्रकार के लक्षण स्वरूप लक्षण और दूसरे प्रकार के लक्षण तटस्थ लक्षण कहलाते है ।[2] तटस्थ

---

1 वेदान्त परिभाषा पर प0 शिवदत्त की अर्थदीपिका टीका पृ0 - 158

2 वेदान्त परिभाषा, खण्ड सात पृ0 - 158

लक्षणों का सम्बन्ध वस्तु की विशेषता या धर्म से नहीं होता किन्तु वे अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता बताते है । उदाहरणार्थ - गन्ध को पृथ्वी का तटस्थ लक्षण कहा जाता है क्योंकि महाप्रलय के समय इसके अणुओं मे गन्ध का अस्तित्व नहीं होता है, किन्तु घटादि निर्मित होने पर गन्ध पृथ्वी के अणुओं को दूसरी वस्तु से भिन्न करने मे सहायक होती है । मकान पर बैठा हुआ कौआ उस मकान का सकेत करने मे सहायक हो सकता है, किन्तु कौआ मकान पर सदा नहीं बैठा रहता है और न वह मकान का अभिन्न लक्षण है । अत कौए को मकान का केवल तटस्थ लक्षण कह सकते है । यह मकान का स्वरूप लक्षण नहीं है, क्योंकि वह उसके वास्तविक तत्व का सकेत नहीं करता है ।

आचार्य शकर ने विशेषण और लक्षण मे अन्तर बताया है । किसी वस्तु के विशेषण, उस वस्तु को समान जाति वाली अन्य वस्तुओं से अलग करते है, जबकि लक्षण उस वस्तु विशेष को अन्य सभी वस्तुओं से अलग करते है ।[1] विशेषण की उपयोगिता वहीं है, जहाँ एक जाति की अनेक वस्तुए हों, किन्तु उनके गुण भिन्न-भिन्न हों । यदि एक ही वस्तु हो तो उस वस्तु के विशेषणों से उसका परिचय नही कराया जा सकता हमे उसके लक्षण बताने होंगे । उदाहरणार्थ- जब हम ' नील कमल ' की बात कहते है तो इसमे ' नीला ' पद ' कमल ' का विशेषण है, किन्तु जब हम कहते है कि आकाश अवकाश प्रदान करता है,

- -

शाकर भाष्य, तैत्तिरीय 2 ।

तो अवकाश प्रदान करने की विशेषता, शकर के अनुसार आकाश का लक्षण है ।[1] इसी आधार पर शकर ने ' सत्य, ज्ञान और अनन्त ' ब्रह्म के लक्षण बताये है,[2] ये ब्रह्म के विशेषण नहीं है । यदि इन्हे ब्रह्म का विशेषण माना जाय तो शकर कहेगे कि उनका प्राथमिक महत्व लक्षण के रूप मे है, विशेषण के रूप मे नही । इन लक्षणों के द्वारा ब्रह्म का केवल सकेत किया जाता है, वर्णन नहीं । इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना है कि ब्रह्म के ये तीनों साकेतिक लक्षण अलग-अलग नही वरन् एक है । शकर के मतानुसार ये तीनों एक साथ मिलकर ब्रह्म का सकेत करते है ।

अन्य सन्दर्भों मे शकर ने सत्य, ज्ञान और अनन्त के स्थान पर ब्रह्म के लक्षण सत्, चित् और आनन्द बताये है ।[3] वस्तुत इन दोनों प्रकार के लक्षणों मे कोई तात्विक भेद नहीं है । ब्रह्म मे सत्य और सत् तथा ज्ञान और चित् एक ही है । इसी प्रकार अनन्त या निरपेक्ष और आनन्द एक ही बात है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि का विचार उद्धृत करते हुए शकर ने ठीक ही कहा है कि इच्छाओं आदि के अभाव के कारण ब्रह्म अवश्य ही आनन्द स्वरूप होना चाहिए ।

---

1 शाकर भाष्य तैत्तिरीय 2 ।

2 शाकर भाष्य तैत्तिरीय 2 ।

3 अपरोक्षानुभूति - 24

शकर ने ' ससार की उत्पत्ति आदि का कारण होना ' भी ब्रह्म का लक्षण माना है । किन्तु इसे स्वरूप लक्षण नही कहा जा सकता । इसका कारण यह है कि शकर के मतानुसार - ब्रह्म वस्तुत अभेद, अखण्ड, असग, निर्गुण, निराकार, निरतिशय, कार्य-कारण भाव से मुक्त तथा ऐसे ही अन्य गुणों से सम्पन्न है । अत उसे ससार का कारण नही कहा जा सकता । वेदान्त परिभाषा के मतानुसार इसे तटस्थ लक्षण मानना चाहिए । यद्यपि यह लक्षण ब्रह्म के स्वरूप को सीधे इगित नही करता है किन्तु एक भिन्न प्रकार से ब्रह्म का लक्षण अवश्य बतलाता है । जिस प्रकार किसी बालक का ध्यान द्वितीया के चन्द्रमा की ओर ले जाने के लिए उसे बताया जाय कि उस सामने के वृक्ष की चोटी के पास चन्द्रमा स्थित है, उसी प्रकार यह सकेत हमारा ध्यान ब्रह्म की ओर आकर्षित करता है। ' उत्पत्ति स्थिति और विनाश ससार के लक्षण है, अत इनका सम्बन्ध उस ब्रह्म से नही है जो शाश्वत और निर्विकार है ।[1] ' अत जन्मादि लक्षण ब्रह्म की वास्तविक प्रकृति के वाचक नही हो सकते और न यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म का उनसे कुछ सम्बन्ध है । ब्रह्म को कारण की कोटि मे भी स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि वह बौद्धिक अनुभूति के परे है । किन्तु यदि ब्रह्म को 'सत्य', ' ज्ञान ' और ' अनन्त ' कहा जाय तो ये उसके स्वरूप लक्षण कहे जायेगे, क्योंकि ब्रह्म का इनके द्वारा वर्णन करने से उसके वास्तविक स्वरूप का सकेत मिलता है। यद्यपि ये तीनों शब्द सामान्य लोगों मे भिन्न अर्थ रखते है, किन्तु यहाँ एक अखण्ड

---

1 ब्रह्मसूत्र पृ0 - 25, वीरेश्वरानन्द की टीका

ब्रह्म के वाचक है जैसे - पिता, पुत्र, भाई, पति आदि शब्द एक ही व्यक्ति को विभिन्न सम्बन्धों से इंगित करते है ।[1]

ब्रह्म ससार के जन्म आदि का कारण है, इस कथन को कुछ विद्वान ब्रह्म का स्वरूप लक्षण मानते है । इसका कारण है कि ब्रह्मसूत्रों मे बादरायण ने प्रथम सूत्र मे ब्रह्म जिज्ञासा का निर्देश करके दूसरे ही सूत्र मे इसका उल्लेख किया है, किन्तु उपनिषदों मे कई स्थानों पर ब्रह्म का निषेधात्मक वर्णन किया गया है और ब्रह्मसूत्र उपनिषदों का सार कहा गया है, इस कारण दूसरे सूत्र मे ब्रह्म के स्वरूप लक्षण का उल्लेख न मानकर तटस्थ लक्षण मानना ही अधिक उचित है । ब्रह्म - जिज्ञासा के निर्देश के तत्काल बाद ब्रह्म का स्वरूप लक्षण न कहकर तटस्थ लक्षण बताने का एक विशेष उद्देश्य है । ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्विकल्प और अज्ञेय होने के कारण, यह बात बहुत ही सार्थक प्रतीत होती है कि ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले व्यक्ति को कुछ ऐसी बातें बतायी जायँ, जिससे उसका मन उस ओर को उन्मुख हो सके । ब्रह्म के तटस्थ लक्षण बताकर ही यह उद्देश्य भलीभाँति सिद्ध हो सकता है ।

6 ब्रह्मज्ञान के साधन -

प्रो0 रानाडे ने लिखा है कि डॉ0 केयर्ड ने अपनी पुस्तक ' इवोल्यूशन ऑफ रिलीजन ' मे परमतत्व का ज्ञान तीन प्रकार से सभव बताया है - विश्व-

---

1 ब्रह्मसूत्र, वीरेश्वरानन्द की टीका पृ0 - 25

विज्ञान से, तत्व-विज्ञान से और मनोविज्ञान से । पहली विधि मे बाहर चारों ओर ससार देखकर दूसरी विधि मे ऊपर देखकर और तीसरी विधि मे अपने भीतर अपने आपको देखकर परमतत्व का ज्ञान हो सकता है ।[1] अधिक स्पष्ट कहे तो पहले सत् की खोज अपने आस-पास की वस्तुओं के द्वारा की जाती है । इसमे असफल रहने पर लोग प्राय तत्व - विज्ञान की परिकल्पना मे प्रवृत्त होते है और यह विश्वास करने लगते है कि सब के ऊपर एक परम सत्ता है जो समग्र ससार की रचना और व्यवस्था करती है । अन्त मे मनुष्य अपने अन्दर की ओर देखता है और वहाँ पने वास्तविक स्वरूप मे परमतत्व का साक्षात्कार करता है । डॉ0 केयर्ड के विचार से, " मनुष्य अपने अन्दर देखने के पहले बाहर देखता है, और ऊपर देखने के पहले अपने अन्दर देखता है । किन्तु उपनिषदों के ऋषियों के अनुसार परमतत्व की खोज के लिए मनुष्य पहले बाहर देखता है, फिर ऊपर देखता है, और अन्त मे अपने अन्दर देखता है । यही स्वाभाविक क्रम है ।

सुगमता के लिए हम विश्व-विज्ञान और तत्व-विज्ञान की विधियों को मिलाकर एक वस्तुगत विधि बना लेते है क्योंकि हम चाहे आस-पास देखें या ऊपर, हम दोनों प्रकार से बाहर ही देखते है और सत् को वस्तुगत रूप मे खोजना चाहते है । तद्नुसार, जब शकर ब्रह्म का निरूपण इस प्रकार करते है कि वह ससार की उत्पत्ति का आदि कारण है और सभी कर्त्ताओं तथा अस्तित्व

---

1 ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी पृ0 - 247-248

का अन्तर्तम सार है[1], तो हम कह सकते है कि वे इस प्रकार वस्तुगत विधि अपनाते है ।

सत् की वस्तुगत विधि से खोज वास्तव मे पश्चिमी दार्शनिकों की विधि है । इसे वैज्ञानिक विधि कहते है । इस विधि मे एक स्वाभाविक दोष है । इसके द्वारा सत् के स्वरूप और अस्तित्व का ज्ञान अपरोक्ष और सदेह मुक्त नही होता है । इस दोष से बचने का कोई उपाय नही है । अनुमान मे इसी विधि का प्रयोग होता है, किन्तु अनुमान के द्वारा प्राप्त ज्ञान सदैव परोक्ष होता है । इसमे सदेह नही कि दृश्य जगत् के वास्तविक तथ्यों का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करके प्रकल्पना रची जाती है और उसके परीक्षणों के द्वारा अनुमान निकाला जाता है, जिसके सत्य होने की पर्याप्त सभावना रहती है, किन्तु सच पूछा जाय तो हमारे निरीक्षणों मे तथ्यों का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है । इसमे बाह्य उपकरणों का प्रयोग न भी हो, तो भी हमे अपनी ज्ञानेन्द्रियों की और मन की सहायता तो लेनी ही पडती है । इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के निरीक्षण मे त्रुटि होने की भी सभावना रहती है क्यों कि हम सत् के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे नही जान सकते है । इस विधि के द्वारा अधिक से अधिक यही हो सकता है कि इन्द्रियानुभविक सही ज्ञान प्राप्त कर लें । यह विधि केवल दृश्य जगत् मे प्रयुक्त होती है । उसके अन्तर्तम मे पहुँचकर इस विधि के द्वारा परमतत्व को नहीं देखा जा सकता

---

1. शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । 2

है । यही कारण है किसी वैज्ञानिक या दार्शनिक ने केवल इस वस्तुगत विधि को अपनाकर दृढतापूर्वक यह कभी नहीं कहा जा सकता कि सत् का यथार्थ रूप ऐसा ही है, अन्यथा नहीं । यही कारण है कि प्रो0 रानाडे के मतानुसार - "उपनिषदों के ऋषियों ने विश्वविज्ञान और तत्व विज्ञान की विधियों को एक ओर रखकर मनोवैज्ञानिक विधि का आश्रय लिया था ।[1]

प्रो0 रानाडे ने जिसे मनोवैज्ञानिक विधि कहा है, हम उसे आत्मगत विधि कहना उचित समझते है । इसमे, सत् का ज्ञान हमारी अपनी आत्मा के ज्ञान द्वारा ही होता है । यह आत्मा ही हमारे ज्ञान का विषय है । जिस आत्मा की खोज उपनिषदों के ऋषि और फिर उनका अनुसरण करते हुए, शकर करते रहे है वह मनोवैज्ञानिक अह नहीं है । वह तत्व विज्ञान या ज्ञानमीमासीय अह है। वह सदा जानता है किन्तु अन्य वस्तुओं जैसी वह कोई वस्तु नहीं है । मनो-विज्ञान मे आत्म-निरीक्षण विधि द्वारा जिन मानसिक स्थितियॉ को जाना जाता है, वह भी आत्मा नही है । मानसिक स्थितियॉ या क्रियाए भी वैसी ही वस्तुए है जैसी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जानने मे आने वाली अनेक बाह्य वस्तुए । अत मनोवैज्ञानिक तथ्य रूप मे आत्मा को खोजना उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे भौतिक दृश्य जगत् मे उसकी खोज करना । आत्मगत विधि से सत् खोजने का अर्थ है, उस वास्तविक आत्मा की खोज करना, जो अनात्म वस्तुओं के साथ अज्ञान से तादात्म्य स्थापित किए हुए है ।

ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिके फिलासफी - पृ0 248

पहले हमे अपनी आत्मा को भौतिक शरीर या शारीरिक अह से पृथक् करना होगा । शकर के मतानुसार - हमारा भौतिक शरीर हमारी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि वह हमारे ज्ञान का वैसा ही एक विषय है जैसी कोई अन्य वस्तु होती है । शकर कहते है कि - "तुम शरीर नहीं हो, क्यों कि शरीर दृष्टिगत होता है, क्योंकि इसका रूप और जाति इत्यादि है, क्योंकि यह भौतिक, सविकार और क्षणिक है । तुम स्वय द्रष्टा, रूप और जातिरहित, अभौतिक, निर्विकार और शाश्वत हो । तुम्हारी मुख्य विशेषता यह है कि तुम जानने वाले हो । तुम शरीर के ज्ञाता हो, इसलिए तुम शरीर नहीं हो, जैसे घट को जानने वाला घट नही होता है, वैसे ही तुम शरीर को जानने वाले शरीर नहीं हो ।"[1]

स्थूल शरीर से अपने को अलग करने के बाद हमे अपने को ज्ञानेन्द्रियों से भी अलग करना होगा । अत शकर आगे कहते है कि "तुम ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हो, वे तुम्हारे उपकरण है और तुम उनके सचालक और प्रयोग-कर्त्ता हो । अत तुम उनसे पृथक् हो । कर्ता जिन उपकरणों से कार्य करता है, वे उपकरण उससे पृथक् होते है । ज्ञानेन्द्रियाँ अनेक है, जबकि तुम एक हो । तुम उनमे से कोई एक इन्द्रिय भी नहीं हो सकते क्योंकि तुम तो ' मै ' रूप मे सब इन्द्रियों मे उपस्थित हो । तुम सब इन्द्रियों के समुच्चय रूप भी नही हो सकते क्योंकि किसी एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने से तुममे कोई कमी नहीं आती है । यदि

तत्वोपदेश, 2 3, आत्मबोध - 14, 18, अपरोक्षानुभूति - 32, 33

भिन्न - भिन्न इन्द्रियों के रूप मे प्रत्येक इन्द्रिय तुम्ही हो, तब तो अनेक स्वामियों का अनुसरण करने मे शरीर ही नष्ट हो जाएगा ।[1] शरीर अनेक स्वामियों की आज्ञा का पालन एक साथ नहीं कर सकता, क्योंकि सब इन्द्रियों का कार्यक्षेत्र भिन्न है । एक राजा के अधीन सम्पूर्ण देश की व्यवस्था का दृष्टान्त तभी सार्थक हो सकता है जब हम एक शरीर मे केवल एक आत्मा को स्वीकार करे ।[2]

इस प्रकार जब शरीर और ज्ञानेन्द्रियों से हमने अपने को पृथक् कर लिया तब प्राण एव मन से भी अपने को भिन्न करना होगा । अत शकर फिर कहते है कि "तुम न मन हो, न प्राण क्योंकि ये दोनों अचेतन है । हम प्राय कहते है कि हमारा मन अन्यत्र चला गया था । इससे प्रतीत होता है कि मै मन से पृथक् हूँ ।[3] प्राण भूख और प्यास से प्रभावित हाते है और तुम उनके द्रष्टा हो । जिस प्रकार घट से उसका ज्ञाता भिन्न है उसी प्रकार तुम प्राण की विभिन्न दशाओं से भिन्न हो । तुम प्राणों को ' अपना ' अनुभव करते हो । तुम बुद्धि भी नही हो क्योंकि यह स्थिर नहीं रहती, बदलती रहती है । वह जागृत अवस्था मे कार्य करती है और सुषुप्तावस्था मे निष्क्रिय हो जाती है । तुम चित् स्वरूप हो, अपनी सब अवस्थाओं को सदा देखते रहते हो ।[4] जो सब परिवर्तनों

---

1 तत्वोपदेश 4 7

2 तत्वोपदेश 8

3 तत्वोपदेश 9, प्रौढानुभूति - 3

4 लघुवाक्यवृत्ति - 9,10,11

के बीच अपरिवर्तित रहता है, वह उन सबसे अवश्य भिन्न है । अत आत्मा मन और बुद्धि की सब परिवर्तित होने वाली दशाओं से भिन्न है । उन सब मे वर्तमान रहकर उनकी साक्षी है । आत्मा सदा साक्षी रूप मे अनुभूत होने के कारण, चेतना स्वरूप है ।

इस प्रकार, यदि कोई अपने वास्तविक स्वरूप का विचार करते हुए उसका यथार्थ ज्ञान पाने मे समर्थ हो जाता है, तो वह परमसत् को पूर्णत जानकर सब सन्देहों से पार चला जाता है । वह अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म को जान लेता है । इसलिए वस्तुगत विधि से आत्मगत विधि निश्चय ही श्रेष्ठ है । अधिक कुछ जानने की इच्छा शेष न रह जाना और सब सन्देहों का समाप्त हो जाना ही सत् का ज्ञान प्राप्त हो जाने का लक्षण है । सत् के अस्तित्व और स्वरूप का पूर्ण ज्ञान उसकी यथार्थ अपरोक्षानुभूति से ही हो सकता है और यथार्थ अपरोक्षानुभूति आत्मगत विधि से ही हो सकती है । यदि अनन्त सत् का ज्ञान किसी प्रकार हो सकता है तो केवल उससे एकात्मभाव हो कर ही सभव है । सत् से अपना तादात्म्य होने का अर्थ, है कि हम अपने अन्तर्तम मे उसका साक्षात्कार करे । यह कार्य हम केवल आत्मगत विधि से ही कर सकते है । अनन्त कोई सीमित वस्तु नहीं है, इसलिए वह किसी प्रकार के ज्ञान का विषय नही हो सकता है । कोई ससीम वस्तु ही ज्ञान का विषय हो सकती है ।

7- आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य -

परमसत् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मगत विधि का सबसे

बडा औचित्य यही है कि इसके द्वारा सत् का अपरोक्ष साक्षात्कार हो सकता है, किन्तु यह साक्षात्कार तभी सभव है जब आत्मा और परमसत् मे कोई भेद न हो। यदि आत्मा वस्तुत ससीम होती, जैसी कि सामान्यत प्रतीत होती है, तो कोई व्यक्ति अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा मे ही अनन्त आत्मा का साक्षात्कार कभी न कर सकता । ससीम कभी भी अपने मे असीमता का अनुभव करने मे असमर्थ है । अत उपनिषदों के ऋषियों का अनुसरण करते हुए शकर ने असंदिग्ध रूप से कहा है कि ब्रह्म - साक्षात्कार अपनी वास्तविक आत्मा के साक्षात्कार मे ही हो सकता है । इसका निहितार्थ स्पष्ट है कि हमारा सत् स्वरूप मूलरूप मे ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है । परमसत् की आत्मगत विधि से खोज करने के लिए आत्मा और ब्रह्म का मूलरूप मे तादात्म्य स्वीकार करना पहले भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि इस विधि का प्रयोग करने के बाद उसका साक्षात्कार कर लेने पर । उपनिषदों के ऋषि और शकर ब्रह्मज्ञान की खोज मे इसी दृढ धारणा के साथ प्रविष्ट होते है कि समग्र के मूल मे केवल एक परमसत् है और आत्मगत विधि से अग्रसर होते हुए अपने अन्तर्तम मे उसे आत्मा के रूप मे पाते है । शकर ने आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन बडी दृढता और स्पष्टता के साथ बार-बार किया है ।[1] प्रो0 पाल डायसन भी स्वीकार करते है कि शकर के धर्म-दर्शन का यह मूलभूत सिद्धान्त है ।[2] इसका साक्षात्कार मनुष्यमात्र के जीवन का

---

1 अपरोक्षानुभूति 24, शाकर भाष्य 2 17, शाकर भाष्य छान्दोगय 6 8 7, आदि ।

2 आउटलाइन्स ऑफ दि वेदान्त सिस्टम ऑफ दि फिलासफी, पृ0 - ।

चरमलक्ष्य है । इसे प्राप्त कर मनुष्य नश्वर ससार के सभी दोषों से मुक्त हो जाता है ।

शकर ने स्पष्ट किया है कि आत्मा और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार " व्यर्थ या त्रुटिपूर्ण कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इससे एक तो अज्ञान समाप्त हो जाता है और दूसरे किसी अन्य ज्ञान के द्वारा इसका बाध नही होता है ।[1] यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार का ज्ञान कभी वस्तुत प्राप्त ही नही होता क्यों कि शास्त्रों के वचन जैसे ' बताये जाने पर वह समझ गया ' (छान्दोग्य 6 ।3 3) इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होना सम्भव स्वीकार करते है साथ ही उनमे कुछ साधन भी बताए गये है, जिनसे वह प्राप्त किया जा सकता है जैसे श्रवण और शास्त्रों का स्वाध्याय । यह कहना भी उचित नही है कि केवल किसी विशेष मानसिक स्तर पर ऐसी अनुभूति होती है, यह अतिम तथ्य नही है, क्योंकि ' तत्वमसि ' से प्रकट होता है कि आत्मा और ब्रह्म की एकता का सामान्य तथ्य किसी विशेष मानसिक स्थिति मे आबद्ध नहीं है । इसके अतिरिक्त, शास्त्र मे चोर के दृष्टान्त (छान्दोग्य 6, ।6) से बताया गया है कि मिथ्याभिनिवेश वाला व्यक्ति बन्धन मे पडता है और सत्य से वचित हो जाता है । परमसत् की एकता ही सत्य है, नानात्व की उत्पत्ति अज्ञान से होती है ।[2] ब्रह्म के साथ सबके तादात्म्य के सिद्धान्त का विरोध इस आधार पर भी नही किया जा सकता

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । ।4

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, पृ0 - 323

कि शास्त्रों मे वर्णित विधि - निषेधों की सार्थकता जो भेद पर ही अवलम्बित है, भेद मिथ्या होने पर व्यर्थ, हो जायेगी ' क्योंकि शकर ने दृश्य जगत् का अस्तित्व तब तक सत्य माना है जब तक ब्रह्म का ज्ञान सर्वात्मा के रूप मे नही हो जाता है ।

कभी-कभी आत्मा और ब्रह्म की एकता के विरोध मे दोनों के तात्विक भेद का प्रश्न उठाया जाता है । आचार्य शकर ने स्वय इस प्रकार प्रश्न अपने शाकर भाष्य मे उठाया है कि एक ससीम, सविकार और जन्मान्तर ग्रहण करने वाला है जबकि दूसरा असीम, निर्विकार और जन्मान्तर से मुक्त है ।[1] आचार्य शकर ने स्वय उसका उत्तर भी देते हुए कहा कि शास्त्रों मे जो तादात्म्य बताया गया है, उसे उसी भाव से समझना चाहिए जिस भाव से विष्णु आदि का तादात्म्य उनकी मूर्ति से किया जाता है ।

आचार्य शकर का मत है कि परम प्रभु को अपनी आत्मा के रूप मे जानना चाहिए । शास्त्रों मे ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है - ' अह ब्रह्मास्मि ' ' तत्वमसि ', ' सर्वखलु इद ब्रह्म ', ' प्रज्ञान ब्रह्म ' ' एक सद् विप्रा बहुधावदन्ति ' आदि - आदि । शास्त्रों की इन मान्यताओं से स्पष्ट है कि आत्मा की वास्तविक या तात्विक प्रकृति ब्रह्म से तादात्म्य रखती है, उसका इन्द्रियानुभविक रूप नहीं। इसके अतिरिक्त शकर इस तादात्म्य को केवल कल्पना नहीं वरन् अनेक लोगों

---

1. शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र - 4 । 3

की अव्यवहित अनुभूति का असदिग्ध तथ्य मानते है । जो लोग अपने को ससीम व्यक्ति और भौतिक शरीर मे आबद्ध समझते है, उन्हे नि सन्देह यह तादात्म्य अद्वैतवादियों के मन की काल्पनिक रचना प्रतीत होगा । किन्तु जिन लोगों को इसकी अनुभूति प्राप्त है, उनके लिए ज्ञान नितान्त असदिग्ध और सत्य है । उन्हे अपनी परिमित प्रकृति अयथार्थ प्रतीत होती है । अब दो मे से किसका विश्वास किया जाय, उसका जो केवल अपनी परिमितता का अनुभव करता है अथवा उसका जिसने अपनी परिमितता के साथ अपरिमित प्रकृति का भी अनुभव किया है ? हमे यही निर्णय निष्पक्ष और सत्य प्रतीत होता है कि प्रथम प्रकार के लोग इस तादात्म्य के सम्बन्ध मे कुछ भी कह सकने की स्थिति मे नहीं है । वे केवल इतना कह सकते है कि उसके बारे मे उन्हे कुछ ज्ञान नहीं है । दूसरी ओर, हम अद्वैत भाव का अनुभव करने वाले लोगों के बचनों को सन्देहास्पद कहकर अन्याय नहीं करेगे क्योंकि वे बहुत विचारवान एव विश्वसनीय है ।

अतएव निष्कर्षत शकर यह कहते है कि यदि हम सत्यनिष्ठा और तत्परता के साथ अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर गहराई से विचार करे तो वह ससार की सब वस्तुओं से भिन्न यहॉ तक कि शरीर, इन्द्रियॉ, मन और बुद्धि से परे चिदात्मक अनुभव होगा और तब आत्मा और ब्रह्म की एकात्मकता के सिद्धान्त की सत्यता सम्भव लगने लगेगी । चेतना अपने आप मे आकाश की भाति न कोई विभाजन या भेद स्वीकार करती है और न कर सकती है ।

8 आत्मा या परमसत् के अस्तित्व का प्रमाण -

यदि हम अपना या अपनी चेतना के अस्तित्व का प्रमाण ढूढना चाहे तो इससे अधिक विचित्र बात क्या हो सकती है ? शकर ने कहा कि जो लोग अपनी चेतना को किसी ऐसे ज्ञान के साधन द्वारा जानना चाहते है जो स्वय उनकी चेतना से प्रकाशित हो रहे है तो उन्हे वैसा ही समझना चाहिए, जैसा कोई ईधन के द्वारा अग्नि को जलाने का प्रयत्न करने वाला । यह स्वत सिद्ध है कि कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व से अनभिज्ञ नहीं है ।[1] ज्ञान के साधनों की खोज स्वय इसके अस्तित्व का प्रभाव है । कोई व्यक्ति बिना स्वय को पहले जाने कि ' मै हूँ ' किसी वस्तु को जानने के लिए आगे नही बढता । ' मै ' के अनुभव या ज्ञान मे मनुष्य अपने आपको जानता है । इस अनुभूति मे वह सदा विद्यमान रहता है ।[2] वह स्वय प्रकाशवान् है अत स्वय सवेद्य भी है । केवल जागृत अवस्था मे ही नहीं बल्कि स्वप्न और सुषुप्ति मे भी आत्मा स्वत प्रकाशवान रहता है । साक्षी आत्मा के स्वय प्रकाशित्व का खण्डन अपने को बहुत बडा तार्किक समझने वाला भी नही कर सकता है । जो कुछ ज्ञात या इच्छित है उस सबसे भिन्न आत्मा का अस्तित्व है । प्रो0 मैक्समूलर ने स्वीकार किया है कि - "इसके अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता" क्योंकि जो उसका निषेध करता

---

1 शाकर भाष्य गीता 2 18

2 अपरोक्षानुभूति - 32

है, वह स्वय ही तो उस निषेध का विषय है और अपने अस्तित्व का कोई भी व्यक्ति निषेध नहीं कर सकता है ।"[1] आत्मा का निषेध करने मे भी उसका अस्तित्व ही सिद्ध होता है, अत उसके अनस्तित्व का ज्ञान कभी सभव नही है। सभी ज्ञान का आधारभूत तत्व और उसकी प्राक्कल्पना होने के कारण आत्मा या चेतना निश्चय ही एक अवर्जनीय तथ्य है ।

किसी वस्तु को अस्वीकार करने का अर्थ है, विचार करना और विचार करने का अर्थ है विचारक के रूप मे उपस्थित होना । इस सत्य को देकार्त ने भली-भाँति समझा था, तभी उसने असदिग्ध भाव से कहा था - "मै सोचता हूँ, अत मै हूँ ।" अतएव यह स्वीकार करना पडेगा कि आत्मा का अस्तित्व, विशेष रूप से शकर के मत मे अर्थात् चेतना या चेतना के सिद्धान्त के अर्थ मे नितान्त असदिग्ध तथ्य है । इसके लिए किसी प्रकार के प्रमाण या तर्क की आवश्यकता नहीं है । अतएव शकर के अनुसार ब्रह्म के अस्तित्व का निश्चय प्रमाण विद्यमान है । ब्रह्म सबकी अन्तरात्मा ही तो है, जिसकी अनुभूति सभी लोगों को सदैव हुआ करती है, क्यों कि प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि 'मै हूँ', और यह कोई नहीं कहता कि 'मै नहीं हूँ ।'[2]

ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए शकर का यह मत इस पूर्व मान्यता पर आधारित है कि ब्रह्म सबकी आत्मा है । यही सिद्धान्त शास्त्रों

---

1 श्री लेक्चर्स, आन वेदान्त फिलासफी, पृ0-88, शाकार भाष्य ब्रह्मसूत्र । । 4, 2 3 7

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । ।

मे भी प्रतिपादित किया गया है । अन्य स्थानों पर शकर ने ब्रह्म का अस्तित्व कुछ लोगों द्वारा अनुभूत उस अपरिमित आनन्द के आधार पर सिद्ध किया है जो विषय-ससर्ग या किसी कामना पूर्ति से कदापि नहीं प्राप्त हो सकता । किन्तु यह मान्यता भी उपनिषदों की इस मान्यता पर आधारित प्रतीत होती है कि ब्रह्म आनन्द है । वस्तुत शकर ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ब्रह्म का ज्ञान इन शास्त्रों की सहायता से ही प्राप्त किया जा सकता है । इसका सीधा अर्थ यही है कि ब्रह्म का ज्ञान निश्चय ही अपरोक्षानुभूति के द्वारा हो सकता है । किसी बाह्य ज्ञान के साधान से उसे नहीं जाना जा सकता है । उपनिषदों के सिद्धान्त की मान्यता का अर्थ है ऋषियों की अपरोक्षानुभूति की मान्यता । यह किसी की कही-सुनी या किसी की व्यक्तिगत कल्पना पर आधारित नहीं है ।

' आचार्य शकर के मतानुसार ', उपनिषदों से प्राप्त ज्ञान का सत्यापन कोई भी व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा कर सकता है । उसे केवल उस व्यक्ति का निर्देश पालन करना होगा, जिसने उस सत्य की अनुभूति पहले कर ली है । इस प्रकार, ब्रह्म के अस्तित्व का सबसे सबल प्रमाण उसकी निरन्तर प्रत्यक्षानुभूति है । इसका यह आशय नहीं कि शकर ने इस प्रमाण को तर्कीय प्रमाण से सम्बन्धित नहीं किया है । उदाहरणार्थ, जब वे सम्भवन प्रकृति वाले सभी परिणामों का अन्तिम कारण और आश्रय तथा आधार पूर्णत अपरिवर्तनीय और स्वाश्रय रूप ब्रह्म के अस्तित्व का प्रतिपादन करते है, तब निश्चय ही, उन्होंने तर्कीय प्रमाण का सहारा लिया है ।[1]

---

1 शाकर भाष्य तैत्तिरीय, 2 7

अध्याय - 5

जगत् धर्म-दर्शन मे उसका स्थान

अध्याय - 5

जगत् धर्म-दर्शन मे उसका स्थान

I जगत् का स्वरूप -

प्रथम दृष्टि मे यह ससार अनेक स्थावर और भिन्न प्रकार की वस्तुओं का सघात दिखायी देता है । वास्तव मे इसकी एकता और परिवर्तनशीलता की अपेक्षा इसकी अनेकता, भिन्नता और अपरिवर्तनशीलता अधिक स्पष्ट दिखायी पडती है । विलियम जेम्स के अनुसार - एक नवजात शिशु को उसके चारों ओर फैला ससार एक विशाल, कोलाहलपूर्ण अनिश्चित वस्तु प्रतीत होता है ।[1] किन्तु एक प्रौढ व्यक्ति को यह ससार ऐसा नहीं प्रतीत होता । शिशु अपनी विश्लेषण शक्ति द्वारा ससार को शीघ्र उसकी विभिन्न वस्तुओं मे बाट देता है । वह इन वस्तुओं के स्थायी लक्षणों को भी समझता है । किसी भी दशा मे एक सामान्य प्रौढ व्यक्ति को ससार के वस्तुओं की परिवर्तनशीलता और सापेक्षता की अपेक्षा उसकी अपरिवर्तनशीलता और अनेकता अधिक स्पष्ट दिखायी देती है । किन्तु गम्भीरता से विचार करते ही उस ससार के अस्पष्ट लक्षण भी स्पष्ट दिखायी देने लगते है । इसका परिणाम यह होता है कि चितनशील व्यक्ति परिवर्तन और सापेक्षता को ही ससार का वास्तविक रूप समझने लगता है । वस्तुत, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे ऐसे अनेक अवसर आते है जब वह विश्व की वस्तुओं को अनस्थायी और सापेक्ष मानने के लिए बाध्य होता है ।

प्रो0 एस0 राधाकृष्णन कहते है कि - "प्रकृति के अविराम प्रवाह

---

1 सायकोलाजी, पृ0 - 18

मे न कही प्रतिरोध है और न कही विश्राम । प्रकृति जिस स्तर तक पहुँच जाती है उससे उसे सतोष नही होता है । वह सदा उच्चतर स्तर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती है ।[1] वास्तव मे वस्तुओं की स्थिरता प्रतीति मात्र है । उनके अन्तर्तम मे सदा परिवर्तन चला करता है । ज्ञात विश्व मे ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसमे परिवर्तन न होता रहता है । इसीलिए प्रो0 बर्गसा ने कहा है कि - " सतत परिवर्तन के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है । बर्गसा का सर्वव्यापी और निरूपाधि सतत परिवर्तन सम्बन्धी मत तर्कपूर्ण है या नही, यह प्रश्न विषयान्तर हो जाएगा । हाँ, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि बाह्य विश्व और हमारी मानसिक अवस्थाओं मे निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है।

वास्तव मे हमारा ससार ऐसे अवयवों मे विभाजित नही है जिनका एक दूसरे से कुछ भी सम्बन्ध न हो । इसके विपरीत यह अन्तर्सम्बन्धित अवयवों का एक समग्र तन्त्र है । विचारशील व्यक्ति की दृष्टि मे ससार के भागों का एक दूसरे से सम्बन्ध उतना ही महत्वपूर्ण, है, जितना उसका परिवतेन । इसमे सन्देह नहीं कि दिखाई देने वाली विविधता के पीछे एकता भी है और इस सारी व्यवस्था के साथ एक उद्देश्यपूर्ण, योजना विद्यमान है । प्रो0 राधाकृष्णन के शब्दों मे- " यह एक व्यवस्था है जिसका प्रत्येक अवयव एक दूसरे पर आश्रित है" ।[2]

----

1 एन आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाइफ पृ0 - 312-313

2 एन आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाइफ पृ0 - 312

विचारशील व्यक्ति यह स्वीकार करते है कि विश्व की इस ऊपरी विविधता और अनेकता के मूल मे एकता है तथा ऊपर से दिखायी देने वाली स्थिरता के भीतर निरन्तर परिवर्तन हो रहा है । शरीर शास्त्रियों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, भौतिक शास्त्रियों ने उसे प्रयोगों द्वारा दिखा दिया है और दार्शनिकों ने इसे समर्थित किया है ।

कुछ भी हो, शकर ने ससार की इन दोनों विशेषताओं को स्वीकार किया है । वे इसकी ऊपरी विविधता अस्वीकार न करते हुए भी इसके अन्तर्तम मे विद्यमान एकता और व्यवस्था के प्रति पूर्णरूप से सजग है ।[1] उनके अनुसार मनुष्य और दूसरे पशुओं के शरीर मे एक विशेष ढग से इन्द्रियों की व्यवस्था होती है और अग्नि वायु सूर्य आदि से बना ससार बहुत ही नियमपूर्वक कार्य करता है। साख्य और वैशेषिकों ने अचेतन प्रकृति और परमाणुओं से विश्वरचना को जैसा सभव बताया है, उसकी आलोचना करते हुए शकर ने विश्व मे उपलब्ध क्रम और व्यवस्था के तथ्य को प्रस्तुत किया है । इस व्यवस्था को देखते हुए ही उन्होंने विश्व का अन्तिम कारण सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर को सिद्ध किया है । यद्यपि शकर बौद्धों के क्षणिकवाद को स्वीकार नहीं करते किन्तु जगत् की परिवर्तनशीलता मे विश्वास करते है । वे बार-बार ससार और उसकी वस्तुओं को अनित्य कहते है ।[2]

---

1 शाकर भाष्य गीता ।8 2

2 शाकर भाष्य प्रश्नोपनिषद 4 ।, शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । 4

उनके अनुसार समस्त विकार परिवर्तन के विषय है । वे कहते है कि विनाश तो कार्य का धर्म ही है, जिसका प्रारम्भ होता है उसका अन्त अवश्य होता है। कार्य का अर्थ ही है परिवर्तन । परिवर्तन उसकी प्रकृति है, किन्तु जो परिवर्तन का विषय है, वह नश्वर है । एक वस्तु कार्य भी हो और नाशवान भी न हो, ऐसा एक साथ सभव नहीं है । सभवन स्वरूपवाली कोई वस्तु सत् या अविनाशी नहीं हो सकती । जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह कभी शाश्वत नहीं हो सकती। अत शकर इस कार्यो के जगत को क्षणिक और नाशवान मानते है ।[1]

शकर के अनुसार ससार का दूसरा विशेष लक्षण सुख-दुख है । ससार सुख-दुख का हेतु है । यद्यपि शकर साख्य के इस मत की आलोचना करते है कि सुखदुखादि सासारिक वस्तुओं के लक्षण है, फिर भी वे इतना जरूर मानते है कि यहाँ हम अपने कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुख का भोग करते है ।[2] वे साख्य मत की आलोचना इस आधार पर करते है कि सुख-दुख हमारी मानसिक अवस्थाए है । बाह्य वस्तुओं मे उनका वास कैसे हो सकता है ? फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि चेतन प्राणियों मे ससार की वस्तुए सुखदुख उत्पन्न करती है । ससार मे भोग्य पदार्थ और भोक्ता प्राणी दोनों है । ससार के सुखदुखात्मक लक्षण को तभी अस्वीकार किया जा सकता है जब हम ससार के

---

1 शाकर भाष्य गीता ।5 3 ।0 8, शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । 3 4।

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 । ।3, ।4

सभी सामान्य लोगों को होने वाली अनुभूति की उपेक्षा कर दे । यह सत्य है कि शकर ने सासारिक सुखों को अधिक मूल्य नहीं दिया है । किन्तु यह भिन्न बात है । इसका अर्थ, यह नहीं है कि शकर ससार मे सुखदुख नहीं मानते । इसके अतिरिक्त ससार मे किचित् सुख देखकर यह भी आशा न करनी चाहिए कि यहाँ पूर्ण आनन्द प्राप्त हो सकता है । इस ससार मे पूर्ण, आनन्द खोजना व्यर्थ है । इन्द्रिय और विषयों के सयोग से अथवा ससीम वस्तुओं के प्राप्त करने की आकाक्षा तुष्ट होने पर जो सुख मिलता है, वह अन्त मे अवश्य ही नष्ट हो जाता है । इसके अतिरिक्त सुख के विषयों की या सुख की इच्छा करना उसके प्राप्त होने के समान नहीं है । उसकी प्राप्ति केवल व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं होती है, वरन् कुछ ऐसे हेतु भी होते है जो सदा व्यक्ति के नियत्रण शक्ति के बाहर होते है । हम चाहे दुखदायी वस्तुओं की इच्छा न करे किन्तु उनसे बचना सदा हमारी शक्ति के भीतर नहीं होता । जब तक हम इस विश्व मे है, हमे उन दुखों और कष्टों का सामना करने के लिए तत्पर रहना चाहिए । तिलक ने भी कहा था कि " इस ससार मे आनन्द की अपेक्षा दुख अधिक है ।"[1]

' ज्ञेय होना ' इस ससार की वस्तुओं की एक अन्य विशेषता प्रतीत होती है । जो वस्तु न कभी जानी गई है और न जानी जा सकती है, उसका कोई वस्तुगत अस्तित्व नहीं होता । शकर के मत मे यह कहना कि कोई वस्तु है,

---

1 कर्मयोग शास्त्र, पृ0 - 106

किन्तु उसका ज्ञान किसी को नहीं है, नितान्त अनुचित या आत्मव्याघाती कथन है । इसका यह अर्थ नही कि ससार की सब वस्तुए किसी न किसी के मन की उत्पत्ति है । उन्हे यह अस्वीकार करने मे कोई सकोच नही है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है, वह ज्ञेय भी है । वे कहते है कि वह वस्तु कहीं, किसी प्रकार, किसी व्यक्ति द्वारा अवश्य जानी गई होगी ।[1] या तो वस्तु की अभिव्यक्ति न हो या उसे किसी न किसी व्यक्ति द्वारा जानने योग्य होना चाहिए । जिन वस्तुओं के विषय मे हम कुछ कहते है, वे ज्ञेय होती है, यदि ऐसा नही है तो हम उनके सम्बन्ध मे कुछ कह ही नहीं सकते है ।

अत शकर के अनुसार जो कुछ ज्ञेय है उसे ससीम, नश्वर एव दुख का हेतु अवश्य होना चाहिए । जो ज्ञेय है उसे ससीम होना ही चाहिए और जो ससीम है, उसे नश्वर भी होना चाहिए । नाशवान वस्तु दुख का कारण होती ही है । अत ज्ञेयता, वस्तुनिष्ठता, ससीमता और नश्वरता एक दूसरे के हेतु और एक साथ होने वाले है । हमारे आत्मगत मन की अवस्थाओं सहित सम्पूर्ण, नामरूपात्मक ससार इन्हीं लक्षणों से विभूषित है । शकर और भगवद्गीता के अनुसार सज्ञान, इच्छा, घृणा, सुख, दुख जैसी आत्मगत मानसिक अवस्थाए और हमारा मन वस्तुगत ससार का वैसे ही एक अग है जैसे अन्य बाह्य वस्तुए ।[2] ज्ञेयता, ससीमता,

---

1 शाकर भाष्य केनोपनिषद् । 4

2 शाकर भाष्य गीता , 13 6

परिवर्तनशीलता विश्व की अन्य वस्तुओं के समान मानसिक अवस्थाओं के भी गुण है ।

2 जगत् के असत् होने का कारण -

वस्तुत ससार का स्वरूप ही ऐसा है, जिसके कारण शकर ने उसे असत् घोषित किया है । शकर के मतानुसार केवल ब्रह्म ही अन्तिम रूप से या तत्वमीमासीय दृष्टि से सत् है । वह कूटस्थ, स्वयभू और शाश्वत है । ' असत् ' शब्द ' सत् ' का विलोम है । अत असत् शब्द का प्रयोग उस वस्तु के लिए होता है जो सत् न हो या सत् से भिन्न हो ।[1] जिसमे सत् के लक्षण विद्यमान न हों उसे असत् कहना उचित ही है । सत् को परिभाषित करते हुए शकर ने कहा है कि सत् स्वयभू, अपरिवर्तनीय और बाध रहित होता है । अत इसके विपरीत जिस वस्तु का अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर करे, परिवर्तनीय हो, अथवा जिसका बाध हो सके उसे असत् समझना चाहिए । इससे स्पष्ट है कि शकर के अनुसार असत् नितान्त अस्तित्व हीन नहीं है । वन्ध्या-पुत्र या रज्जुसर्प के समान भ्रामक प्रतीति के अतिरिक्त सामान्य रूप से सत् मानी जाने वाली वस्तुए भी असत् है । उनके द्वारा मान्य सत् की कसौटी पर जो खरा न उतरे वह सब असत् है।

नितान्त भ्रामक न होने पर भी हमारे अनुभव की वस्तुए न स्वयभू है और न कूटस्थ । वे सब किसी न किसी कारण के कार्य है और उनका आदि

---

1 शाकर भाष्य छान्दोग्य, 7 3 2

अन्त दोनों है । हमारे पूर्व कथनानुसार परिवर्तन उनकी प्रकृति मे निहित है । किसी परिणामी या परिवर्तनशील वस्तु की अपनी ऐसी कोई प्रकृति नही होती जो उससे अविभाज्य हो । परिवर्तनशील होने के कारण वह प्रकृति वस्तु मे सदा नहीं रह सकती । वस्तु के सभी गुण-धर्म उसके कारण से अर्जित होते है । अत शकर की मान्यता यह है कि कोई भी परिणाम या विकार सत् नहीं होता है ।[1]

आचार्य शकर तर्कत यह सिद्ध करते है कि जगत असत् है । उनका तर्क है कि जाग्रत अवस्था की वस्तुए असत् है क्योंकि वे सज्ञान की विषय है । वास्तव मे ज्ञेय होने का अर्थ, ससीम होना क्योंकि असीम वस्तु ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकती । किन्तु जो वस्तु ससीम है वह स्वयभू या स्वाश्रय नही हो सकती । अत वह अवश्य ही किसी अन्य का कार्य है और इसीलिए असत् है। कारण से अलग होकर कोई कार्य नहीं प्राप्त हो सकता । उदाहरणार्थ - हम मिट्टी के घडे को उसके उपादान कारण मिट्टी के बिना नहीं प्राप्त कर सकते। अत घडा सत् वस्तु नहीं है । यह केवल एक नाम है जो वाक् से उत्पन्न होता है । जिस प्रकार घडे से सीमित आकाश सर्वव्यापी आकाश से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखता, उसी प्रकार भोग्य और भोक्ताओं से बना यह विश्व ब्रह्म से अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता है ।[2] ब्रह्म ही इसका अन्तिम आधार और आश्रय

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । ।4

2 शाकर भाष्य 2 । ।4

है । इस ससार मे जितने भी कारण कहे जाते है, वे स्वय दूसरे कारणों के कार्य है । वे कारणहीन कारण नही है । ब्रह्म ही एकमात्र कारणहीन कारण है । अत केवल ब्रह्म ही सत् है, अन्य प्रत्येक वस्तु उसका आभास मात्र है ।

मरूस्थल मे जल की असत्यता का उल्लेख करते हुए आचार्य शकर कहते है कि उसका अपना कोई स्वतत्र रूप न होने के कारण वह असत् है । उसका वर्णन न इस रूप मे किया जा सकता है और न उस रूप मे ।[1] शकर की इस युक्ति मे हमारे विचार से ब्रैडले की उन समस्त युक्तियों का साराश विद्यमान है, जिसके द्वारा उसने अपनी पुस्तक ' एपीयरेन्स एण्ड रियलटी ' मे यह सिद्ध किया है कि इस ससार की प्रत्येक वस्तु आभास है, सत् नही । खण्डन खण्डखाद्य के सुप्रसिद्ध लेखक श्री हर्ष ने सम्भवत शकर के इस छोटे से किन्तु महत्वपूर्ण सूत्र ' स्वरूपेणानुपाख्यत्वात् ' से प्रेरणा ग्रहण करके एक विस्तृत तर्कोक्ति तैयार की, जिससे उन्होंने वस्तुवादियों के और विशेषकर नैयायिकों के उन सभी सम्प्रत्ययों को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया, जिनके द्वारा उन्होंने इन्द्रियानुभविक ससार की सत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था । उदाहरणर्थ - न्याय-वेशेषिक के अनुसार ' द्रव्य वह है जो गुणों का आधार हो ', किन्तु श्रीहर्ष कहते है कि द्रव्य का यह सम्प्रत्यय असगत है क्योंकि इसका प्रयोग गुणों पर भी किया जा सकता है। रग आदि गुणों के भी सख्या आदि गुण हो सकते है । यदि यह कहा जाय कि

---

1 शाकर भाष्य 2 । ।4

गुण मे गुण का आभास भ्रामक है तो श्री हर्ष पूँछते है कि पृथ्वी आदि द्रव्यों के विषय मे अन्यथा कैसे हो सकता है ? यदि नैयायिक कहते है कि वहाँ गतिरोध का अभाव है, तो हम कह सकते है कि यही स्थिति गुणों के विषय मे भी होनी चाहिए । इसके अतिरिक्त श्री हर्ष कहते है कि नैयायिक को बताना चाहिए कि गतिरोध क्या है, जो गुणों को अन्य गुण धारण करने मे बाधक होता है । यदि नैयायिक यह कहते है कि हमारा सिद्धान्त यही है कि गुणों मे गुण नहीं होते, तो श्री हर्ष का उत्तर यही है कि तब तो रग जैसे गुणों की स्थापना ही सभव नही है ।[1] इसी प्रकार श्री हर्ष यही सूत्र ' स्वरूपेणानुपाख्यत्वात् ' दूसरे सम्प्रत्ययों पर एक-एक करके प्रयोग करते है और उनमे सन्निहित असगतियों को प्रगट करते है ।

आचार्य शकर ने जगत की असारता को सिद्ध करने के लिए एक दूसरा मापदण्ड निकाला जिसे बाध की कसौटी कहते है । उन्होंने इन वस्तुओं की व्यावहारिक सत्यता तो बडी प्रसन्नता के साथ स्वीकार की है, किन्तु पारमार्थिक द्रृष्टि से उन्हे असत् कहने मे कोई सकोच नहीं किया है, क्यों कि उस दशा मे उनका बाध हो जाता है । वे कहते है कि - ' यद्यपि इस विश्व का हमे अनुभव होता है और यह हमारे व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है तो भी यह स्वप्न के समान असत् है, क्योंकि दूसरे ही क्षण इसका बाध हो सकता है ।[2]

---

1 खण्डन खण्डखाद्य अनुवाक 4, पृ0 - 579

2 अपरोक्षानुभूति, 56

वस्तुत यदि हम यह मान लेते है कि सत् वही है जिसका कभी बाध नहीं हो सकता तो हम शकर के दिये गए उपर्युक्त निर्णय से बच नही सकते । हमारी जाग्रत अवस्था के अनुभवों का सुषुप्ति और स्वप्न की अवस्था मे वैसे ही बाध हो जाता है जैसे उन अवस्थाओं के अनुभवों का जाग्रत अवस्था मे बाध हो जाता है । यदि बाध को किसी अवस्था के असत् होने की कसौटी और अबाध को उसके सत् होने की कसौटी मान लिया जाय तो हमारी सारी मानसिक दशाए और उनके घटक असत् मानने पडेगे । तब केवल उनका साक्षी या द्रष्टा सत् रह जायेगा क्योंकि वह समान रूप से उन सबको जानता रहता है, वह उन सबके बाध का ज्ञाता है, किन्तु स्वय बाधरहित है ।[1]

बाध तीन प्रकार का होता है - अनुभवमूलक, तार्किक और श्रुति-सम्बन्धी । जब शकर स्वप्न के अनुभवों का बाध जाग्रत मे और जाग्रत के अनुभवों का बाध स्वप्न या सुषुप्ति मे होना बताते है तो वे नि सन्देह अनुभवमूलक बाध की बात करते है । किन्तु जब वे इन्द्रियानुभविक विषयों को उनके परिवर्तनशील और पराश्रित स्वरूप के कारण असत् घोषित करते है तो वे एक प्रकार के तार्किक बाध की ओर निर्देश करते है । एक अनुभव का किसी अन्य अनुभव द्वारा निषेध होने पर अनुभवमूलक बाध कहलाता है, किन्तु जब एक विचार किसी अन्य विचार द्वारा बाधित कर दिया जाता है तो वह तार्किक बाध कहा जाता है । शकर जब

---

1 अपरोक्षानुभूति - 57-58

इन्द्रियानुभविक वस्तुओं को उनकी प्रकृति के कारण असत् कहते है तो उनके विचार मे अनुभवमूलक बाध की अपेक्षा तर्कीय बाध रहता है । अनुभव एक प्रमाण अवश्य है किन्तु प्रत्येक प्रमाण अनुभवमूलक नहीं होता । तार्किक प्रमाण को अनुभवमूलक प्रमाण से प्रमाणित किया भी जा सकता है और नहीं भी ।

शकर ने विश्व को असत् सिद्ध करने के लिए श्रुतियों का भी सहारा लिया है । शाकर भाष्य (ब्रह्मसूत्र 2 । ।4) मे वे स्वय कहते है कि यह ससार सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि यह एक कार्य है । श्रुतियों ने सभी कार्यो को असत् बताया है । उदाहरणार्थ - छान्दोग्य उपनिषद मे कहा गया है कि मृत्तिका के सभी कार्य ' नाम ' मात्र है, इनमे केवल मिट्टी ही सत् है । शकर इस दृष्टान्त का प्रयोग जगत और उसके कारण पर करते है । श्रुतियों के अनुसार सभी कार्य असत् होने के कारण शकर यह निष्कर्ष निकालते है कि जगत कार्य है और इसलिए असत् है । शकर ने उन श्रुतियों का भी सहारा लिया है जिन्होंने द्वैत-पुष्टि की निन्दा की है ।[1] यदि एकत्व की दृष्टि की तरह नानात्व की दृष्टि भी सही होती तो उपनिषद् यह न कहते कि जो नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु मे पडता है ।[2] शकर के विचार से श्रुतियाँ चोर का दृष्टान्त देकर कहती है कि मिथ्याभिनिवशवाला बधन मे पडता है और सत्याभिसन्धिवाला मुक्ति

---

1 वृहदारण्यकोपनिषद् 4 4 ।9

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । ।4

प्राप्त करता है ।[1] एकत्व ही वास्तविक सत्ता है, नानात्व की उत्पत्ति अज्ञान से होती है, क्योंकि यदि एकत्व और नानात्व दोनों सत् होते, तो वह व्यक्ति जो प्रपचात्मक जगत को ही सत्य मानता है मिथ्याभिनिवेशवाला क्यों कहलाता ? यदि नानात्व ही सत्य होता तो मुक्ति का कारण ज्ञान न बताया जाता । उस स्थिति मे न कोई मिथ्याज्ञान होता और न सत्य ज्ञान द्वारा उसे दूर करने का प्रश्न उठता। यदि दोनों प्रकार के ज्ञान सत्य तो शकर पूँछते है कि एकत्व के ज्ञान से नानात्व का ज्ञान दूर करने की बात क्यों कही जाती ? इस प्रकार शकर ने जगत् की असत्यता श्रुतियों का सहारा लेकर भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है ।

3 प्रातिभासिक, व्यावहारिक एव पारमार्थिक सत्ताए -

आचार्य शकर द्वारा ससार की असत्यता सिद्ध करने के लिए दी गई युक्तियों के आधार पर हमे यह नहीं समझना चाहिए कि वे जगत् को नितान्त असत् अथवा अनस्तित्ववान या भ्रम समझते थे । सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि आचार्य शकर सभी प्रकार की सत्ताओं को अनस्तित्व से भिन्न मानते है। उनके विचार से जो नितान्त अस्तित्वहीन या असत् है वह न किसी वस्तु का कारण बन सकता है और न कार्य । उससे न कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न वह किसी से उत्पन्न होता है । उदाहरण के लिए त्रिकोणात्मक वृत्त नितान्त असत् है । वास्तविक अस्तित्व मे आने की तो बात ही क्या, उसका प्रातिभासिक अस्तित्व भी नहीं हो सकता । वन्ध्या-पुत्र और शशश्रृग नितान्त असत् वस्तुओं

---

1 छान्दोग्य उपनिषद 6 ।6

के प्रमुख उदाहरण है । शकर का मत है कि बन्ध्या-पुत्र की उत्पत्ति न वास्तविक रूप से हो सकती है और न माया द्वारा ।[1] ऐसी वस्तुओं का कोइ आधार नहीं है । ऐसी वस्तुए निरात्मक होती है क्योंकि उनका अपना कोई स्वरूप नही है और वे निरास्पद भी होती है क्योंकि उनके आश्रय के लिए कोई आधार नही है। इस प्रकार की वस्तु कोई व्यावहारिक उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकती ।[2] ऐसी वस्तुए बिना किसी सदेह के नितान्त असत् होती है । किन्तु प्रत्येक असत् वस्तु इसी प्रकार से असत् नहीं होती । जैसे - भ्रम असत् है और हम सभी लोग उसे असत् ही मानते है , किन्तु हम यह कभी नही कह सकते कि वह निराधार है । रज्जु-सर्प या मृग तृष्णा जैसे भ्रम-मूलक आभास कभी किसी के द्वारा कहीं निरास्पद नहीं जाने जाते है । भ्रममूलक वस्तु का वास्तविक अस्तित्व तो नहीं होता किन्तु उसका आभास अवश्य होता है । इसके अतिरिक्त भ्रम तब तक सत् प्रतीत होता रहता है जब तक यथार्थ ज्ञान द्वारा उसका बाध नहीं होता है । यही बात स्वप्न तथा अन्य विभ्रमों के बारे मे भी कही जा सकती है । उनका भी कोई न कोई आधार होता है । उनका वस्तुगत आधार चाहे कुछ हो, किन्तु उनके आत्मनिष्ठ आधार को नकारा नही जा सकता । कोई इच्छा, सस्कार या अनुभूति, चाहे हमारे अचेतन मन मे ही छिपी हो, उसके आधार रूप मे अवश्य होनी चाहिए। अत भ्रामक प्रतीतियों को पूर्णत असत् वस्तु से भिन्न अवश्य समझना चाहिए।

---

1 शाकर भाष्य माण्डूक्य कारिका, 16 (बन्ध्यापुत्रो न तत्वेन माययाऽपि जायते)

2 शाकर भाष्य गीता 9 4 (न हि निरात्मक किचिद् व्यवहारायावकल्पते)

उनकी भिन्नता का कारण उनकी प्रतीति के अतिरिक्त उनका आधार भी है । अत हम कह सकते है कि असत् और भ्रम मे शकर ने जो भेद किया है, वह बिल्कुल ठीक है । भ्रामक वस्तुए यद्यपि स्वय सत् नहीं होतीं किन्तु वे अपने आधार मे किसी सत् वस्तु की ओर सकेत करती है । वन्ध्यापुत्र की भाति नितान्त असत् वस्तुए, ऐसा कोई उद्देश्य सिद्ध नही करती ।

भ्रान्तिमान प्रतीतियों को शकर ने ' प्रातिभासिक सत्ता ' का नाम दिया है । इसका अर्थ है सत्ता का आभास । यद्यपि ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व एक सामान्य व्यक्ति भी सत्य नही मानता, फिर भी उनका ज्ञान असत् नहीं कहा जा सकता । भ्रममूलक वस्तुओं की तरह भ्रान्ति मे प्रतीति की चेतना का बाध नहीं होता है ।[1] उदाहरणार्थ, - शकर कहते है कि " सोकर उठा हुआ व्यक्ति स्वप्न मे देखे हुए सर्प-दश या नदी स्थान आदि कार्यो को असत् मानता है, किन्तु इसीकारण यह स्वप्न मे हुई उनकी चेतना को असत् न मान लेगा ।" यही बात जाग्रत अवस्था की भ्रामक प्रतीतियों के विषय मे भी कही जा सकती है । रज्जु को जान लेने पर रज्जु के सर्प का बाध हो जाता है, किन्तु हमे जो सर्प की चेतना हुई थी, वह असत् नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसका कभी बाध नहीं होता । अत प्रातिभासिक वस्तुओं की तरह प्रातिभासिक चेतना असत् नहीं होती। इस प्रकार हमारी जाग्रत अवस्था की वस्तुए भ्रममूलक प्रतीतियों से भिन्न है । जिस

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । ।4 (अबाध्यमानत्वस्)

प्रकार भ्रममूलक प्रतीतियों का बाध होता है, ठीक उसी प्रकार उनका बाध नहीं होता है । स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था मे उनकी चेतना का अभाव निस्सदेह उनका बाध कहा जा सकता है, किन्तु यह बाध बिल्कुल उस प्रकार का नहीं है, जैसा स्वप्नावस्था के अनुभवों का जागने पर या भ्रममूलक आभास का उसके आधार मे विद्यमान सत् वस्तु के ज्ञान से बाध होता है । जागने पर स्वप्न के विषय निस्सदेह विलीन हो जाते है । किन्तु इतना ही नहीं होता है । इन वस्तुओं के विलीन होने और जाग्रत अवस्था की वस्तुओं का उद्‌भव होने के साथ ही स्वप्न की वस्तुओं की असत्यता और जाग्रत की वस्तुओं की सत्यता की अनुभूति भी होती है । इसी प्रकार जब हमे जाग्रत अवस्था की भ्रामक वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो भ्रामक वस्तु की असत्यता और उसके आधारभूत वस्तु की सत्यता की चेतना आवश्यक रूप से होती है । किन्तु स्वप्न या सुषुप्ति मे जाग्रत अवस्था की वस्तुओं का बाध इस प्रकार नहीं होता है । इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्वप्न या सुषुप्ति मे जाग्रत की वस्तुए विलीन हो जाती है, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं कि हम उन अवस्थाओं मे जाग्रत की वस्तुओं को असत् मानते है । सुषप्ति की अवस्था मे न उनकी सत्यता की चेतना रहती है और न असत्यता की । स्वप्नावस्था मे निस्सदेह स्वप्न के विषयों और उनकी सत्यता की चेतना तो रहती है, किन्तु उस चेतना के साथ जाग्रत अवस्था की वस्तुओं की असत्यता की चेतना नहीं रहती । अत जाग्रत अवस्था की सामान्य वस्तुओं की तरह बाध नही होता । इसी तात्पर्य से शकर कहते है कि "जिन वस्तुओं की अनुभूति हमे जाग्रत अवस्था मे होती है, उनका बाध किसी भी अवस्था मे उस

प्रकार नही होता, जिस प्रकार स्वप्नावस्था की वस्तुओं का बाध जागने पर हो जाता है ।[1] यद्यपि ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होगा कि शकर का यह कथन, उनके उस कथन के विपरीत है, जिसमे वे इस ससार की वस्तुओं का असत् इसलिए कहते है क्योंकि स्वप्न या सुषुप्ति मे उनका बाध हो जाता है ।[2] किन्तु गहराई से विचार करने पर यह विरोध नही रह जाता ।

जब शकर स्वप्न या सुषुप्ति मे जाग्रत की वस्तुओं का बाध कहते है तो उनका तात्पर्य केवल इतना होता है कि वे उन अवस्थाओं मे विलीन हो जाती है । जाग्रत की वस्तुए स्वप्नादि मे असत् नहीं प्रतीत होतीं । शकर जब उनके बाध को अस्वीकार करते है तो वे बाध शब्द को दूसरे अर्थ मे लेते है ।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि कुछ बातों मे हमारे सामान्य अनुभव की वस्तुए भ्रममूलक या स्वप्नावस्था की वस्तुओं से समानता रखती है, जैसे दोनों प्रकार की वस्तुए हमारी चेतना की विषय होती है, परिवर्तनशील, नश्वर और सीमित हाती है तथा नितान्त असत् वस्तुओं से भिन्न प्रकार की होती है, आदि-आदि। किन्तु साथ ही उन दोनों प्रकार की वस्तुओं मे भेद भी है । स्वप्न या भ्रम की वस्तुओं का अस्तित्व हमारे मन मे ही सीमित होता है । इसलिए वे हमारे व्यक्तिगत या निजी अनुभवमात्र होते है । जाग्रत अवस्था की निभ्रन्ति वस्तुए सभी के सामान्य

---

1 शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 2 29 (नैव बाध्यते)

2 अपरोक्षानुभूति, 56 (असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तर क्षण बाधत)

अनुभव मे आती है । इसलिए वे सही अर्थ मे वस्तुगत प्रकृति की होती है । प्रथम प्रकार की वस्तुए हमारे किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करतीं। उदाहरणार्थ - मृगमरीचिका का जल न पीने के काम आता है और न नहाने के। किन्तु जाग्रत अवस्था की यथार्थ वस्तुओं की व्यावहारिक उपयोगिता हमारे दैनिक अनुभव की विषय है । अत शकर ने इन दोनों मे स्पष्ट भेद किया है । भ्रान्तिमूलक या स्वप्न की वस्तुओं के अस्तित्व को वे प्रातिभासिक सत्ता कहते है और सामान्य अनुभव की वस्तुओं के अस्तित्व को व्यावहारिक सत्ता कहते है । पहले प्रकार का अस्तित्व प्रतीतिमात्र है, जब कि दूसरे प्रकार का व्यावहारिक है । जो जल हमारी प्यास बुझाता है वह मृगतृष्णा के जल की तुलना मे अवश्य ही सत्य है।[1] इसीलिए हम एक को सत्य और दूसरे को असत्य मानते है । सामान्य व्यक्ति अपने अनुभव की वस्तुओं को असत्य नहीं मानता । इन वस्तुओं की व्यावहारिक उपयोगिता इतनी अधिक है, इनकी चेतना इतनी प्रभावकारी, स्थायी और बारम्बार होने वाली है कि विचारशील व्यक्ति भी इनको असत्य मानने मे कठिनाई का अनुभव करता है । फिर भी शकर इन सबको निरपेक्ष सत्, ब्रह्म से भिन्न मानते है । उनके अनुसार ब्रह्म कूटस्थ, स्वयभू, और स्वय प्रकाश स्वरूप है । शकर की दृष्टि मे यही एकमात्र पारमार्थिक या परमसत्ता है ।

जहाँ तक विश्व के व्यावहारिक अस्तित्व का प्रश्न है, शकर उसका विरोध नहीं करते है । व्यावहारिक दृष्टि से उसे सत् कहने मे उन्हे सकोच नहीं

---

1 शाकर भाष्य, तैत्तिरीय, 2 6 (मृगतृष्णिकाद्यपेक्षया सत्य)

है । किन्तु परम या वास्तविक सत् की दृष्टि से वे उसे निर्भीक भाव से असत् कहते है ।[1]

शकर के अनुसार वस्तुओं को सत् या असत् मानना बुद्धि पर निर्भर करता है ।[2] इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शकर वस्तुओं को केवल मानसिक ही मानते है क्योंकि उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ब्रह्म या परमसत् का ज्ञान समस्त, प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह व्यक्ति - व्यापार - तन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र है ।[3] वस्तुओं की सत्यता या असत्यता, नि सन्देह, स्वय वस्तुओं के आश्रित है, फिर भी उनको सत् या असत् कहने के पहले उनके स्वरूप की परीक्षा कर लेनी चाहिए । यह परीक्षा हमारी प्रज्ञा या बुद्धि की विषय है । इसलिए हम वस्तुओं की सत्यता या असत्यता को बुद्धितन्त्र कह सकते है । वस्तुत इन्द्रियानुभविक वस्तुओं के स्वरूप की परीक्षा के परिणाम-स्वरूप ही शकर को उन्हे असत् और ब्रह्म को सत् या पारमार्थिक सत्ता कहना पडा ।

प्रतिभासिक एव व्यावहारिक अस्तित्व के बीच का भेद सामान्य विश्वास का विषय है, किन्तु साधारणत व्यक्ति इससे परे जाकर नहीं विचार करते । उनके लिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे आने वाली । वस्तुए ही सत् प्रतीत होती

---

1 शाकर भाष्य ईशोपनिषद-1, शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । 14, 2 । 17

2 शाकर भाष्य गीता, 2 16 (सदसतौ बुद्धितन्त्रे)

3 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, । । 4

है । किन्तु परम या वास्तविक सत् की दृष्टि से वे उसे निर्भीक भाव से असत् कहते है ।[1]

शकर के अनुसार वस्तुओं को सत् या असत् मानना बुद्धि पर निर्भर करता है ।[2] इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शकर वस्तुओं को केवल मानसिक ही मानते है क्योंकि उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ब्रह्म या परमसत् का ज्ञान समस्त, प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह व्यक्ति - व्यापार - तन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र है ।[3] वस्तुओं की सत्यता या असत्यता, नि सन्देह, स्वय वस्तुओं के आश्रित है, फिर भी उनको सत् या असत् कहने के पहले उनके स्वरूप की परीक्षा कर लेनी चाहिए । यह परीक्षा हमारी प्रज्ञा या बुद्धि की विषय है । इसलिए हम वस्तुओं की सत्यता या असत्यता को बुद्धितन्त्र कह सकते है । वस्तुत इन्द्रियानुभविक वस्तुओं के स्वरूप की परीक्षा के परिणाम-स्वरूप ही शकर को उन्हे असत् और ब्रह्म को सत् या पारमार्थिक सत्ता कहना पडा ।

प्रतिभासिक एव व्यावहारिक अस्तित्व के बीच का भेद सामान्य विश्वास का विषय है, किन्तु साधारणत व्यक्ति इससे परे जाकर नहीं विचार करते । उनके लिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे आने वाली । वस्तुए ही सत् प्रतीत होती

---

1 शाकर भाष्य ईशोपनिषद-1, शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । 14, 2 । 17

2 शाकर भाष्य गीता, 2 16 (सदसतौ बुद्धितन्त्रे)

3 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, । । 4

है । किन्तु शकर को इतने से ही सतोष नहीं होता । उपनिषदों से सकेत पाकर वे चिन्तन करते है और उसके परिणामस्वरूप वे व्यावहारिक वस्तुओं के अस्तित्व मे और पारमार्थिक अस्तित्व मे भेद करते है । शकर सदैव पारमार्थिक दृष्टि से ही उन्हे असत् कहते है । इस सम्बन्ध मे, उनके द्वारा किए गये प्रातिभासिक और पारमार्थिक सत्ताओं के बीच भेद को हमे याद रखना चाहिए ।

आचार्य शकर के पूर्व बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने भी अस्तित्व का इसी प्रकार वर्गीकरण किया था । शकर की भ्रममूलक प्रतीति या प्रातिभासिक सत्ता को उन्होंने अलोक सवृत्ति, व्यावहारिक सत्ता को लोक सवृत्ति और पारमार्थिक सत्ता को परमार्थ सत्य कहा है । किन्तु इसी आधार पर हमे यह नह मान लेना चाहिए कि शकर सत्ताओं के इस भेद के लिए नागार्जुन के ऋणी है । वे स्वय नागार्जुन की भाति यह भेद करने मे समर्थ थे । वास्तव मे, यह कहना भी कठिन है कि नागार्जुन ने यह भेद स्वय स्वतत्र रूप से किया है । जहाँ तक प्रतिभासिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता के भेद का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों ने इसे सदा ही स्वीकार किया है । व्यावहारिक एव पारमार्थिक सत्ताओं के बीच का भेद नागार्जुन से पहले छान्दोग्य उपनिषद् के रचनाकाल मे ही विद्यमान् था ।[1] जब यह उपनिषद् केवल मिट्टी को सत् कहता है और उसके सभी विभिन्न रूपान्तरणों को वाक् से उत्पन्न ' नाम ' मात्र बताता है, तब

---

1 इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, पृ0 - 50।

क्या वह यह नहीं मानता कि केवल ब्रह्म ही सत् है तथा अन्य प्रत्येक वस्तु जो ब्रह्म पर आश्रित है, केवल व्यावहारिक सत् है ?

4 विश्व की अनिर्वचनीयता -

वस्तुत इन्द्रियानुभविक जगत् का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकार का है । इसे न तो नितान्त असत् और नितान्त सत् तथा न केवल मानसिक रचना ही कहा जा सकता है । इसके स्वरूप का यथार्थ निरूपण करने के लिए हमे नितान्त सत् तथा नितान्त असत् से अलग करना होगा । इसके सीमित, पराश्रित तथा परिवर्तनशील होने के कारण तथा इसका तर्कीय और अनुभवमूलक बाध हो सकने के कारण इसे सत् मानना सभव नहीं दिखायी देता है। किन्तु इसके साथ ही इसकी वस्तुगत प्रतीति होती है और इसमे स्थायित्व दिखायी देता है, इसलिए यह प्रातिभासिक सत्ता से भी भिन्न है । ' सत् ' और ' असत् ' शब्द एक दूसरे के विपरीत है । अत यह कहना सभव नहीं है कि ससार सत् और असत् दोनों है । इसके विपरीत यह भी नहीं कहा जा सकता कि जगत् न सत् है और न असत् क्योंकि इसमे मध्य दशा परिहार के नियम का उल्लघन होगा । अत शकर ने इस विश्व के लिए अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग किया है । वे कहते है कि नाम रूप (अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत्) सत् रूप मे या उससे भिन्न असत् रूप मे अनिर्वचनीय है ।[1] "नाम रूप वाली यह अनेकता व्याकृत और अव्याकृत दोनों है, इसे हम न अस्तित्ववान् कह सकते है और न अनस्तित्ववान, यह अपनी

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, । । 5, 2 । ।4 (नामरूपे तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये)

परिवर्तनशीलता के लक्षण के साथ ब्रह्म पर आधारित है ।[1] यह नानात्वपूर्ण विश्व न तो सत् है क्योंकि यह व्याघात का विषय है और न असत् क्योंकि इसकी स्पष्ट प्रतीति होती है । इसका न स्वतत्र अस्तित्व है और न यह अस्तित्वहीन है । यह अस्तित्ववान् और अनस्तित्ववान दोनों भी नहीं है क्योंकि ये दोनों व्याघाती पद है । अत यह अनिर्वचनीय है । शकर के अनुसार यद्यपि यह अनिर्वचनीय विश्व, ब्रह्म पर आधारित माना जाता है किन्तु प्रत्यक्षत यह अनिर्वचनीय माया की उत्पत्ति है ।

5 माया -

' माया ' शब्द अत्यन्त प्राचीन है । इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद मे हुआ है । ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है - "इन्द्रो मायाभि पुरूरूप ईयते ।"[2] इसका अर्थ यह है कि इन्द्र रहस्यमयी शक्ति के द्वारा अनेक रूप धारण करता है । इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स मे कहा गया है कि ' माया ' शब्द का प्रयोग सुर एव असुर दोनों के छल-कपट के लिए किया गया है । उदाहरणार्थ- असुरों की माया को जीत कर ही इन्द्र ने सोम को जीता । अथवा ' जादूगर माया का प्रयोग करता है ' या ' अशुभ प्रवृत्ति के लोग मायावी होते है '। इससे स्पष्ट है कि माया शब्द निश्चय ही अशुभ शक्तियों या छल-कपट के लिए प्रयुक्त हुआ

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 । 27

2 ऋग्वेद 6 47 ।8 (इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स मे उद्घृत)

है । किन्तु जब यह माना गया कि 'माया के द्वारा मित्र और वरूण जलवृष्टि करते है तथा अपने नियमों की रक्षा करते है' अथवा ' माया के कारण ही सूर्य और चन्द्रमा एक दूसरे के बाद आते है '[1] तो यह शब्द शुभ देवताओं के लिए प्रयोग किया गया है । ' माया द्वारा इन्द्र मायावी असुरों पर विजय प्राप्त करता है ' इस मन्त्र मे माया शब्द का प्रयोग सुरों और असुरों दोनों के लिए हुआ है ।[2] हम देखते है कि इसका प्रयोग चाहे भले देवताओं के लिए हुआ हो अथवा दुष्ट दैत्यों के लिए, किन्तु उसके स्वरुप मे कोई अन्तर नहीं आता । क्यों कि दोनों अर्थों मे यह अतिप्राकृत शक्ति के लिए आया । लगभग इसी अर्थ मे यह शब्द अथर्ववेद मे भी प्रयोग किया गया है - ' द्यूत क्रीडा मे माया द्वारा ही भाग्य जागता है ।'[3] किन्तु केवल इसी अर्थ मे ' माया ' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । उदाहरणार्थ-अथर्ववेद मे जब यह कहा गया है कि ' माया की उत्पत्ति हुई थी ' तो निश्चय ही ' माया ' शब्द का प्रयोग माया के परिणाम या कार्य के अर्थ मे किया गया है । यहाँ उसका प्रयोग रहस्यमयी शक्ति के लिए नहीं है ।

वास्तव मे यदि हम इस सिद्धान्त से सहमत है कि कार्य अपने कारण से भिन्न नहीं होता, केवल उसी का रूपान्तरण है तो यह मान सकते है कि कार्य, कारण ही है । नि सन्देह कारण को कार्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु

---

1 ऋग्वेद 10 85 18 (इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स मे उद्धृत)

2 इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, पृ0 - 503

3 अथर्ववेद 4 37 3

कार्य की व्याख्या कारण के द्वारा हो सकती है । उदाहरणार्थ यह कहना तो ठीक नहीं कि जल बर्फ है या हाइड्रोजन और आक्सीजन पानी है । स्पष्ट है कि कार्य अपने कारण के समान होता है किन्तु कारण एव कार्य का स्वरूप एक नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी कहा गया है कि मिट्टी के सघात को जान लेने पर मिट्टी की बनी सभी वस्तुए ज्ञात हो जाती है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि घडे को जान लेने से मिट्टी का ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार शब्द माया, जिसका मूल अर्थ एक रहस्यमयी सर्जक ऊर्जा, शक्ति या सकल्प है उसकी रचना के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है । इस शब्द की उत्पत्ति ' मा ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है ' मापना ' । इसलिए माया का अर्थ मापने की शक्ति या इस शक्ति से मापने योग्य या निश्चित की जाने वाली वस्तु हो सकता है । श्री बेट्टीहीमान कहते है कि "मापने या विभाजित करने की शक्ति के द्वारा ही कृष्ण सभी इन्द्रियानुभविक या व्यावहारिक रूप धारण करते है" और "सभी माया अर्थात् मापने योग्य ससीम वस्तुए अव्यक्त से हीन प्रकार की है ।[1] यहाँ वे माया शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों अर्थो मे करते है ।

"माया" शब्द भगवद्गीता मे भी उपलब्ध होता है । भगवान कृष्ण ईश्वरभाव मे बोलते हुए स्वय कहते है कि - "मै अविनाशी और अजन्मा होने पर भी तथा समस्त भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन

---

1 इण्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलासफी, पृ0 - 5।

करके योगमाया से प्रकट होता हूँ ।[1] गीता के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि माया दिव्य आध्यात्मिक सत्ता पर अवलम्बित है । उसका स्वतत्र अस्तित्व नहीं है । यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि यह एक रहस्यमयी शक्ति है, जिसके द्वारा ईश्वर अनेक रूप धारण करता है, किन्तु अपने को अलिप्त रखता है ।

योगवाशिष्ठ मे भी ' माया ' शब्द का प्रयोग हुआ है । एक अन्य स्थान पर योगवाशिष्ठ के लेखक ने माया को प्रकृति भी कहा है । वह शिव की स्पन्दनकारी एव दैवी इच्छा है ।[2] यह ब्रह्म की सर्जनात्मक शक्ति है, जिसके द्वारा समस्त वस्तुगत आभास की रचना होती है ।

पुराणों मे भी व्यक्त किया गया है कि जिस विश्व मे हम रहते है, उसके विषय मे हमारी धारणा अविद्यात्मक या दोषपूर्ण है और यह सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति का कार्य है, यह न तो स्वतत्र प्रकृति का विकसित रूप है और न अव्यय परमाणुओं का सघात है । उदाहरणार्थ - ब्रह्मपुराण मे कहा गया है कि द्वैत की दोषपूर्ण दृष्टि को अविद्या कहते है[3] और मनुष्य द्वैत दिखाने वाली अपनी माया से ही अपने को भ्रमित करता है ।[4] ब्रह्मपुराण मे माया

---

1 भगवद्गीता, 4 6

2 योगवाशिष्ठ 6/2 85,14 (सा राम स्वन्दशक्तिरकृत्रिमा)

3 शाकर भाष्य श्वेताश्वतर, प्रस्तावना

4 शाकर भाष्य श्वेताश्वतर प्रस्तावना (स्वमायया स्वमात्मान मोहयेत् द्वैतरूपया)

के लिए अविद्या शब्द का भी प्रयोग किया गया है और विश्व को असत् माना गया है । दूसरे स्थान पर विष्णु को विष्णु की माया द्वारा व्याप्त भी माना है । माया ही आत्मगत एव वस्तुगत अनुभववों वाले समस्त जगत् की रचना करती है । इसी प्रकार विष्णु पुराण और लिग पुराण मे समस्त द्वैत की प्रतीति को असत् बताया गया है । यह ससार उस आधारभूत सत् की असत् प्रतीति है जिसे अच्युत, विज्ञान, विष्णु आदि अनेक नामों से पुकारा गया है । इस द्वैत को माया कहते है क्योंकि यह जो कुछ प्रतीत होता है, कार्य है । इसे न नितान्त सत् कहा जा सकता है और न नितान्त असत् ।[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि माया की अवधारणा बहुत प्राचीन है । शकर से पूर्व अनुपथी साहित्य मे इसका पर्याप्त प्रयोग हुआ है । इसके महत्व के विषय मे विद्वानों मे कुछ मतभेद हो सकता है, किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसका प्रयोग बहुत सी श्रुतियों मे हुआ है । शकर इसका प्रयोग करने वाले पहले दार्शनिक नहीं थे । इससे शकर के उन आलोचकों के विचारों की असगति सिद्ध हो जाती है जो शास्त्रों के अधिकार को तो स्वीकार करते है, किन्तु शकर को मायावादी कहकर उनकी आलोचना करते है । यदि व्यावहारिक जगत् की व्याख्या के लिए माया का प्रयोग करने के कारण शकर को मायावादी कहा जा सकता है तो प्राचीन काल के उन ऋषियों और विद्वानों को भी मायावादी कहना चाहिए, जिन्होंने शास्त्रों की रचना की है । शकर के

---

1 शाकर भाष्य श्वेताश्वतर, प्रस्तावना मे उद्धृत लिग पुराण ।

ऊपर लगाए गए आरोप का औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है जब उन्हे शास्त्र विरोधी सिद्ध किया जा सके । किन्तु ऐसा करना सभव नहीं है, क्योंकि उन्होंने माया का लगभग उसी अर्थ मे प्रयोग किया है, जिस अर्थ मे वह शास्त्रों मे मिलता है । वास्तव मे, किसी भी शकर विरोधी दार्शनिक के मत की अपेक्षा शकर का माया सम्बन्धी मत अनुपथी शास्त्रों द्वारा वाञ्छित माया के अर्थ, के निकट है ।

6 शकर के धर्मदर्शन मे ' माया ' -

ऋग्वेद तथा अन्य प्राचीन शास्त्रों की तरह शकर माया को सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति मानते है । अपनी अनिवर्चनीय दिव्य शक्ति के द्वारा ही वह विश्व की रचना करता है और स्वय उससे अप्रभावित रहता है । शकर कहते है कि इस शक्ति को अवश्य स्वीकार करना पडेगा अन्यथा इसके बिना ईश्वर को ससार का सृष्टा नहीं माना जा सकता क्योंकि कार्य शक्ति के बिना वह क्रियाशील ही न हो सकेगा ।[1] इस माया अथवा कारण शक्ति का आधार ईश्वर है । उसे अव्यक्त कहते है । परमेश्वर की इसी माया को शास्त्रों मे कभी-कभी ' आकाश ' या कभी - कभी ' अक्षर ' कहा गया है । श्रुति और स्मृति मे जिसे प्रकृति कहा गया है, वह यही माया है , और सर्वज्ञ ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले जो नाम-रूप है, जिसे इस दृश्य जगत् का बीज कहा गया है, और जिसे न सत् कह सकते है और न असत्, वह माया ही है ।[2] शकर के अनुसार प्रकृति

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । 4 3

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । ।4

इस माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । वह त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण ससार की बीज है ।[1] वह समस्त इन्द्रियानुभविक विश्व का कारण है । वही सब शरीरों एव इन्द्रियों की रचना करती है । तीन गुणों वाली माया ईश्वर की अपनी शक्ति है और वही ससार की सब वस्तुओं की मूलस्रोत है ।[2] इसे अव्यक्त कहते है क्योंकि इसका वर्णन न सत् कहकर किया जाता है और न असत् कहकर ।

शकर की इस माया को साख्य दार्शनिकों के प्रधान अथवा प्रकृति के समान नहीं मानना चाहिए । स्वय शकर ने अपने पाठकों को ऐसी त्रुटि न कर बैठने की चेतावनी दी है । साख्य की प्रकृति एक स्वतत्र तत्व है । वह अपने आप मे अपने द्वारा ही स्थित है । वह पुरूष के समान ही सत् है, जिसका उद्देश्य पूरा करने के लिए उसका अस्तित्व है । इसके विपरीत शकर की माया वैदिक एव उपनिषदीय साहित्य की माया की भांति दूसरे पर निर्भर रहने वाली मानी गई है । यह ईश्वर पर पूर्णतया निर्भर और उससे अभिन्न रहने वाली है। इसलिए उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । साख्यवादियों के विपरीत शकर इसका स्वतत्र अस्तित्व नहीं मानते ।[3] जिस प्रकार शक्ति, शक्तिमान से अभिन्न होती है, वैसे ही माया ईश्वर की शक्ति होने के कारण उनसे अभिन्न है ।[4] वास्तव मे, शकर के धर्मदर्शन मे जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है, वह

---

1 शाकर भाष्य गीता, 7 4, 13 19, 13 29
2 शाकर भाष्य गीता 14 3
3 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 1 4 3
4 शाकर भाष्य गीता 14 4

ब्रह्म से भिन्न नहीं है । किन्तु अभिन्नता से शकर का तात्पर्य तादात्म्य नहीं है । श्री वाचस्पति मिश्र कहते है कि शकर के लिए अभिन्नता का अर्थ, भिन्नता को स्वीकार करना मात्र है । इसका अर्थ तादात्म्य स्वीकार करना नहीं है ।

आचार्य शकर के अनुसार माया ईश्वर की वह आश्चर्यजनक रचनात्मक सकल्पशक्ति है, जिसमे असीम कारण-कार्य शक्यता है । शकर ने विशेष रूप से यही दिखाने का प्रयत्न किया है, कि इस विश्व की उत्पत्ति आदि का कारण ईश्वर की माया ही है । शकर का विचार है कि यह विश्व नाम रूपों द्वारा विभाजित है, इसमे अगणित कर्ता एव भाक्ता है, यहाँ जीवों को निश्चित कारण से निश्चित स्थान एव समय पर अपने कर्मों का फलभोग प्राप्त होता है, इसकी व्यवस्था मन से अचिन्त्यनीय है । ऐसे ससार की उत्पत्ति सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकती ।[1] यह विश्व अचेतन प्रधान एव परमाणुओं से भी नहीं उत्पन्न हो सकता । यह न किसी असत् तत्व से उत्पन्न हो सकता है और न किसी जन्म लेने वाले तथा मरने वाले व्यक्ति द्वारा रचा जा सकता है ।

अतएव, शकर ने विश्व की उत्पत्ति आदि का कारण किसी पुनरावर्ती तत्व को अस्वीकार करके इस बात पर बल दिया कि किसी ससीम तत्व से विश्व की उत्पत्ति सभव नहीं है । केवल सर्वज्ञ एव सर्वशक्ति ईश्वर ही अपनी रहस्यमयी

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, । । 2

माया से ससार की रचना कर सकता है । स्पष्ट है कि शकर के मतानुसार ससार की कारण शक्ति केवल माया है और उस माया का आश्रय तथा आधार सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं है । ' यद्यपि ' शकर ने कही-कही इन्द्रजाल वाली माया का भी उल्लेख किया है[1], जिससे उनका तात्पर्य किसी अबुद्धिगम्य, रहस्यात्मक और मिथ्या वस्तु से है किन्तु किसी ससीम व्यक्ति की ऐसी माया को वे विश्व की रचना करने वाली सर्वशक्तिमान ईश्वर की माया के समतुल्य नहीं मान सकते । किसी जादूगर की माया अथवा किसी देवता की माया भी अनादि अनन्त नहीं हो सकती, किन्तु विश्व की रचना करने वाली माया वैसी ही अनादि और अनन्त है जेसा सर्वशक्तिमान ईश्वर, जो उसे धारण करता है ।[2] अत शकर की माया को एक सत्तामीमासीय सम्प्रत्यय समझना चाहिए । वह कोई मानसिक सत्ता नही हे । इसमे कोई सन्देह नहीं कि शकर माया को और साथ ही उसके परिणामों को मिथ्या मानते है, किन्तु इससे उसकी सत्तामीमासीय स्थिति पर आघात नहीं लगता है । एक तो, व्यावहारिक वस्तुओं की अथवा उसके कारण स्वरूप माया की असत्यता से शकर का तात्पर्य यह नहीं कि वे नितान्त अस्तित्वहीन है, वरन् उनके अनुसार वे अनिर्वचनीय है अर्थात् वे न तो ब्रह्म की तरह नितान्त सत् है और न अस्तित्वहीन पदार्थो की तरह नितान्त असत् । दूसरे, विश्व की रचना करने वाली माया को धारण करने वाला कोई ससीम व्यक्ति नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यक्ति या उसका मन ससार के अन्य पदार्थो की तरह स्वय ही माया

---

1 शाकर भाष्य गीता 13 26

2 शाकर भाष्य गीता 13 19

की उत्पत्ति है, जिसकी रचना माया द्वारा ही हुई है, वह माया का आधार कैसे हो सकता है । माया और उसके परिणामों की सत्तामीमासीय स्थिति, वास्तव मे कुछ भी हो सकती है, किन्तु वह मानसिक विकल्प की तरह कदापि नहीं है। हमारी मानसिक अवस्थाए चाहे भ्रम हों या किसी अन्य प्रकार की, किन्तु वे माया की रचनाओं पर ही निर्भर करती है । किसी ससीम मन की अवस्थाए उस स्तर का वस्तुगत अस्तित्व निर्मित नहीं कर सकती जैसा सर्वसर्जिका माया कर सकती है । अत शकर जब माया को मिथ्या कहते है तो उनका तात्पर्य यह कदापि नहीं होता कि माया केवल एक मानसिक अस्तित्व है । वे माया को भ्रममात्र भी स्वीकार नहीं करते । उन्होंने माया को सर्वव्यापी परमात्मा की शक्ति मानकर उसकी आत्मनिष्ठता अस्वीकार कर दी है और ऐसा होने के कारण ही माया भ्रम भी नहीं मानी जा सकती है । इसके अतिरिक्त शकर ने व्यावहारिक एव प्रातिभासिक सत्ताओं मे भेद मानकर भी माया को प्रातिभासिक सत्ता से बाहर स्थान प्रदान किया है । वे जब व्यवहार जगत् को भ्रम नहीं मानते तो वे इसके मूलकारण माया को भ्रम कैसे मान सकते है ? किसी कारण की सत्तामीमासीय स्थिति उसके कार्य की स्थिति से अवश्य ऊँची होनी चाहिए, और शकर ने यही स्वीकार किया है ।

माया को ईश्वर की रचनात्मक इच्छाशक्ति कहने पर भी उसकी वस्तुपरता पर कोई प्रभाव नहीं पडता । यद्यपि हमारी इच्छा-शक्ति हमारे मन का कार्य है, इसलिए वह हमारे लिए आत्मनिष्ठ है, किन्तु ईश्वर की रहस्यमयी इच्छाशक्ति

के लिए यही बात सत्य नहीं कही जा सकती है । प्रथमत, माया को ईश्वर की इच्छा-शक्ति भाषा के आलकारिक प्रयोग मे ही कहा जाता है । जैसे, यह न जानते हुए कि विद्युत वास्तव मे स्वत क्या है, हम उसे बहने वाला द्रव कह सकते है, वैसे ही भाषा को ईश्वर की इच्छाशक्ति कहा जाता है । यदि हम बुद्धि के परे की वस्तुओं पर विचार करना ही चाहते है तो हमे परिचित शब्दावली का प्रयोग करना ही पडेगा । द्वितीयत, ईश्वर की इच्छाशक्ति उसके मन का कार्य नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर के मन इन्द्रिया और शरीर कुछ भी नहीं है।[1] ऐसा माना जाता है कि ईश्वर का बोध और गति बिना इन्द्रियों के ही होती है। वह बिना आखों के देखता तथा बिना कानों के सुनता है ।[2] उसकी सारी कार्य-विधि, वस्तुत अज्ञात है । उसकी माया को हम माया इसलिए कहते है कि वह एक बहुत बडी समस्या है, हमारे लिए एक रहस्य है । यदि उस रहस्य को समझ लिया जाय तो वह माया न रहेगी । वह माया इसीलिए है कि हम उसे समझने का चाहे जितना प्रयत्न करे, वह हमारे सब प्रयत्नों को विफल कर देती है । साथ ही हम माया को ईश्वर की प्रकृति भी कह सकते है । माया को ईश्वर के मन का कार्य मानने मे तो यह हानि है कि ईश्वर के मन को ईश्वर से भिन्न मानने पर अद्वैत की हानि होती है । वेद, उपनिषद् एव शकर ईश्वर मे जिस अद्वैतभाव को मानते है, उसमे भेद उत्पन्न हो जाएगा । अत यदि इसे शक्ति मानना ही है तो उसे आत्मनिष्ठ की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ इच्छा शक्ति ही मानना

---

1 श्वेताश्वतर उपनिषद् 2 ।9 और उस पर शाकर भाष्य

2 श्वेताश्वतर उपनिषद् 6 8

चाहिए । हमारे लिए माया के सभी कार्य वस्तुगत रूप मे ही है । हम उन्हे मानसिक दशाओं के रूप मे कभी नहीं समझते । इसमे सन्देह नहीं कि कभी-कभी हम अपनी किसी मानसिक दशा को वस्तुरूप मान बैठते है, किन्तु इसके विपरीत यह कभी सभव नहीं कि हम किसी वस्तु को अपनी मानसिक दशा समझ लें । आज का मनोवैज्ञानिक कहेगा कि हमारा वस्तु-बोध केन्द्र से उत्पन्न होने वाला नहीं है, बल्कि हमारे पर्यावरणीय परिधि से उत्पन्न होता है । शकर भी बाह्य वस्तुओं का बोध इन्द्रिय वस्तु सम्पर्क का ही परिणाम मानते है ।[1] इस प्रकार वह ज्ञात वस्तुओं का ही परिणाम है । शकर वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण मे हमारी बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों के कार्य की उपेक्षा नही करते, किन्तु दूसरी ओर वे प्रत्यक्ष के सम्पूर्ण ढाचे को इन्द्रियों पर ही छोडना भी नहीं चाहते । अत माया को विश्व का मूलकारण मानने मे विश्व की व्यावहारिक सत्ता पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पडता है ।

7 **माया एव अविद्या -**

आचार्य शकर माया को उसके मूल रूप मे मानते हुए भी मुख्य रूप से उसे ईश्वर की शक्ति मानते है तथा उसे वे, तदनुकूल ही विश्व की रचना का प्रथम कारण भी स्वीकार करते है, किन्तु यह भी अस्वीकार नही किया जा सकता कि कही-कहीं उन्होंने विश्व को ' अविद्यात्मक ', ' अविद्याकल्पित ' तथा 'अविद्या-प्रत्युपस्थापित ' भी कहा है ।[2] अत यह प्रश्न उठता है कि क्या शकर के

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 2 28-29

2 ब्रह्मसूत्र, शाकर भाष्य 2 । 14

लिए माया और अविद्या एक ही तत्व है अथवा दो भिन्न तत्व है ? इस पर विद्वानों ने भिन्न - भिन्न मत प्रकट किया है । एक ओर थीबो यह मानते है कि शकर के दर्शन मे माया और अविद्या शब्द एक दसूरे के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते है ।[1] दूसरी ओर, कर्नेल जैकब स्पष्ट रूप से कहते है कि शकर के दर्शन मे माया शब्द का प्रयोग अविद्या के अर्थ मे नहीं किया गया है । माया और विद्या के सम्बन्ध मे यह मतभेद वस्तुत शकर सिद्धान्त के अनुयायियों मे भी प्राप्त होता है । ' सक्षेप शारीरक ' के लेखक श्री सर्वज्ञ मुनि, ' सिद्धान्त मुक्तावली ' के लेखक श्री प्रकाशानन्द तथा ' विवरण-प्रमेय-सग्रह ' के लेखक श्री विद्यारण्य माया, अविद्या तथा अज्ञान मे कोई भेद नहीं मानते है ।[2] किन्तु पचदशी, प्रकृतार्थ विवरण तथा कुछ अन्य ग्रन्थों मे इन दोनों के बीच कुछ भेद अवश्य किया गया है । प्रकृतार्थ-विवरण मे माया को अनादि, अनिर्वचनीय और सभी वस्तुओं का कारण माना गया है । यह माया एक अनन्त विश्व-चेतना के साथ सम्बद्ध है । अविद्या इस विश्व माया की एक सीमित इकाई है । पचदशी मे भी माया को ईश्वर की उपाधि माना गया है और अविद्या को ससीम जीव की उपाधि ।[3]

आचार्य शकर के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि उन्होंने इन दोनों शब्दों का प्रयोग तो यद्यपि बहुत किया है किन्तु उनमे भेद नहीं दिखाई

---

1 ब्रह्मसूत्र के अनुवाद की भूमिका, पृ0 - 25 पर थीबो का कथन ।

2 सक्षेप शारीरक, । 20, सिद्धान्त मुक्तावली पृष्ठ 39, विवरण प्रमेय सग्रह पृ0 - 133

3 पचदशी , । 15 17

देता । कहीं - कहीं तो उन्होंने माया के कार्यो अथवा विश्व के पदार्थो को अविद्यात्मक या अविद्यारोपित आदि भी कहा है । किन्तु यह भी निश्चित है कि शकर ने अविद्या को ईश्वर की उपाधि कहीं नहीं कहा है । उन्होंने ईश्वर को ' मायिन ' तो कई बार कहा है किन्तु ' अविद्यावान ' एक बार भी नहीं कहा । इसके विपरीत उन्होंने ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वविद् आदि नामों से अवश्य अभिहित किया है । शकर के ये सब कथन इस बात के सकेत करते है कि उनके अनुसार माया और अविद्या को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता । जिन वाक्यों मे शकर ने माया शब्द का प्रयोग किया है उनमे यदि माया के स्थान पर अविद्या शब्द रख दिया जाय तो सब अर्थ ही बदल जाएगा । ईश्वर अथवा जगन्नियन्ता को अविद्या का विषय नहीं कहा जा सकता । ईश्वर को अविद्या का विषय मानना आत्म-व्याघाती होगा। विश्व की रचना तथा उसका पालन करने के लिए ईश्वर को अतिशय ज्ञान-सम्पन्न होना चाहिए, अविद्या की तो बात ही क्या । जो व्यक्ति किसी वस्तु की रचना करता है वह ज्ञान द्वारा ही करता है, अविद्या या भ्रम के द्वारा नहीं । जादूगर का जादू भी द्रष्टा को ही भ्रमित करता है स्वय जादूगर को नहीं । शकर ने स्वय कहा है कि जिस प्रकार जादूगर अपने द्वारा ही फैलाई गई माया से कभी भ्रमित नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी माया से सदा असस्पृष्ट रहता है ।[1] अविद्या-ग्रसित व्यक्ति के विषय मे यह सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता है। यह कहना कि अविद्यावान व्यक्ति अपनी अविद्या से अप्रभावित है, स्वय व्याघाती

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, । । 3

है । शकर की माया को न तो ईश्वर की अविद्या कहा जा सकता है और न जीव की है ।[1] इसमे कोई सन्देह नहीं कि शकर ने माया शब्द का प्रयोग माया की उत्पत्ति अर्थात् सासारिक पदार्थो के लिए भी किया है ।[2] यह मत शकर द्वारा प्रतिपादित कार्य-कारण सम्बन्ध के अनुरूप है और साथ ही वेद-उपनिषदों मे माने गए माया के अर्थ के अनुकूल भी है । किन्तु माया के इन कार्यो को शकर ने अविद्यात्मक कहा है । अब प्रश्न यह है कि यदि विश्व वास्तव मे ईश्वर की रहस्यमयी माया की उत्पत्ति है और उस माया को अविद्या नहीं कहा जा सकता तथा यदि यह विश्व हमारी कल्पना की रचना कदापि नहीं है, तो इसे अविद्यात्मक कहने का क्या तात्पर्य है ?

शकराचार्य के दर्शन पर गहराई से दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि शकर ने केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही विश्व अथवा माया को असत् कहा है । व्यावहारिक दृष्टि से यह ससार शकर के लिए उतना ही सत्य है जितना कि हमारे लिए । अत केवल पारमार्थिक दृष्टि से शकर ने जगत् को अविद्यात्मक कहा है । व्यावहारिक दृष्टि से तो वह ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति माया का ही कार्य है ।

इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार से भी विश्व को अविद्यात्मक कहा जा सकता है । अविद्या शब्द ' विद्या ' के पूर्व ' अ ' प्रत्यय लगाकर बनता

---

1 सिद्धान्त लेश सग्रह (जीवाश्रितादविद्यानिवाहात् भिन्ना मायैव ईश्वराश्रिता प्रपचकारणम्)

2 शाकर भाष्य, माण्डूक्य कारिका । ।7 (प्रपचाख्यम् माया मात्रम्)

है । ' अ ' का अर्थ है ' नहीं ' और विद्या का अर्थ है ' ज्ञान ' अर्थात् सम्पूर्ण शब्द ' अविद्या ' का अर्थ होगा-ज्ञान का अभाव या त्रुटिपूर्ण ज्ञान अथवा ज्ञान के विपरीत कुछ अन्य ।[1] वास्तव मे हम यह तो नहीं कह सकते है कि ईश्वर मे ज्ञान की कमी है या उसमे त्रुटिपूर्ण ज्ञान है, किन्तु ईश्वर की माया को ज्ञान के अतिरिक्त कुछ अन्य जरूर कहा जा सकता है । माया को ईश्वर की शक्ति या उपाधि मानने से माया को ईश्वर से भिन्न तो मानना पडता है किन्तु उसे ईश्वर से अलग नहीं माना जा सकता है । अत यदि ज्ञान या चेतना को ईश्वर का वास्तविक स्वरूप माना जाता है तो माया को उससे भिन्न अविद्या और उसके कार्यो को अविद्यात्मक मानने मे कोई हानि नहीं है । किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि अविद्या का यह अर्थ मनोवैज्ञानिक या ज्ञानमीमासीय भाव मे नहीं है । यदि हम अविद्या को इन अर्थों मे लेते है तो ईश्वर की सर्वज्ञता के साथ उसकी सगति नहीं बैठ सकती । यदि माया और उसके कार्यों को क्रमश अविद्या तथा अविद्यात्मक मानना है तो यह सत्तामीमासीय अर्थ मे ही माना जा सकता है ।

शकर ने व्यक्ति विशेष की अविद्या को उसके विश्व का कारण एक निश्चित अर्थ मे माना है । शकर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप मे ब्रह्म ही है । किन्तु अपनी अनादि अविद्या के कारण वह अपना तादात्म्य माया रचित मनस आदि से रखता है और अपने को एक सीमित व्यक्ति मानता है । वह अपने को कर्ता और भोक्ता मानकर शुभ और अशुभ कार्य करता है[2],

---

1 दीवानचन्द, शार्ट स्टडीज इन उपनिषद्स पृ0 - 31-32

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 3 40

जिनके परिणामस्वरूप उसे जन्म-मृत्यु, सुख-दुख आदि सहन करना पडता है । इसी से वह सासारिक बन्धन मे पडता है ।[1] इस प्रकार उसकी अविद्या अथवा अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान विश्व का कारण बनता है ।[2] अथवा विश्व मे उसके बन्धन का कारण बनता है । यह बन्धन तब तक रहता है जब तक वह अविद्या के कारण मनस् आदि उपाधियों से अपना तादात्म्य स्थापित रखता है । अविद्या को ज्ञानमीमासीय अर्थ मे लेकर जगत् का कारण केवल इसीरूप मे माना जा सकता है । निष्कर्षत, कहा जा सकता है कि शकर के दर्शन मे माया का अर्थ अविद्या के ज्ञानमीमासीय अर्थ मे नहीं है । शकर जब माया के कार्यो को अविद्या की उत्पत्ति कहते है तब या तो अविद्या शब्द को विद्या अथवा ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के अर्थ मे लिया है या उसे गलत ज्ञान के अर्थ मे लिया है । उसका अर्थ न तो ज्ञान का अभाव है और न मिथ्यात्व । यदि माया को त्रुटिपूर्ण ज्ञान माना गया है तो केवल इसी अर्थ मे कि उसके कारण व्यक्ति ससार के बन्धन मे पडता है ।

8 अविद्या का आश्रय -

अविद्या के आश्रय के विषय मे विद्वानों मे पर्याप्त मतभेद है । इस सम्बन्ध मे दो प्रकार के मत मिलते है । कतिपय विद्वान यह मानते है कि

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 3 30

2 शाकर भाष्य केनोपनिषद्, प्रस्तावना (ससारबीजमज्ञान कामकर्म प्रवृत्तिकारणम्)

शुद्ध ब्रह्म ही अविद्या का विषय और आश्रय दोनों है ।[1] अन्य विद्वानों के अनुसार अविद्या का आश्रय ब्रह्म नहीं अपितु जीव है । वास्तव मे, इन दोनों मे से कोई भी मत मानने मे कठिनाई हो सकती है । प्रथम मत मे तो पर्याप्त कठिनाई है क्योंकि शुद्ध चेतना और अज्ञान मे उसी प्रकार का विरोध है, जिस प्रकार प्रकाश एव अन्धकार मे । दूसरे मत के विरोध मे भी यह कहा जा सकता है कि इसमे अन्योन्याश्रय का तर्कदोष है । इसमे अविद्या का आश्रय जीव बताया गया है, जब कि जीव का जीवत्व स्वय अविद्या की उत्पत्ति है । अविद्या का आश्रय जीव हो ही कैसे सकता है ? अविद्या के ससर्ग मे आने से पूर्व जीव का अस्तित्व ही नहीं था । किन्तु यह कठिनाई पहले मत की तरह दुर्निवार नही है । इस मत के समर्थकों ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए बीज और पेड का उदाहरण दिया है ।[2] पेड का अस्तित्व बिना बीज के सभव नहीं है और बीज की उत्पत्ति बिना पेड के नहीं हो सकती । फिर भी पेड और बीज दोनों का अस्तित्व है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि जीव और उसकी अविद्या अनादि काल से ही है ।

आचार्य शकर ने जीव को ही अविद्या का आश्रय स्वीकार किया है । शकर ने स्वय ब्रह्मसूत्र के चौथे अध्याय के प्रथम पाद के तीसरे सूत्र मे यह

---

1 सिद्धान्तलेश सग्रह । 7 (शुद्धब्रह्माश्रय विषयमेकमेवाज्ञानम्)

2 भामती । । ।

प्रश्न उठाया है कि अविद्या किसकी है ? पुन उन्होंने ही उत्तर देते हुए कहा है कि यह तुम्हारी ही है जो तुम यह प्रश्न पूछ रहे हो । भगवद्गीता के अपने भाष्य मे शकर ने यही प्रश्न फिर उठाया है और वैसा ही उत्तर भी दिया है। शकर कहते है कि 'अविद्या उसी व्यक्ति की है जिसमे वह प्रतीत होती है अथवा जो उसे देखता है ।[1] अगर आप यह पूँछते है कि ' अविद्या किसमे प्रतीत होती है ?' तो शकर कहते है कि यह प्रश्न ही निरर्थक है । यदि आपको अविद्या की प्रतीति हो रही है तो आप उसके आश्रय को भी देख रहे होंगे ।[2] शकर के इस उत्तर से स्पष्ट है कि वे अविद्या का आश्रय ब्रह्म न मानकर जीव ही मानते है । वे अविद्या को ' स्वानुभवगम्य ' और ' स्वाश्रय ' भी कहते है ।[3] ' स्वानुभवगम्य ' का अर्थ है - कोई ऐसी वस्तु जिसका अनुभव स्वय किया जा सके और ' स्वाश्रय ' का तात्पर्य उस वस्तु से है जिसका आश्रय अपनी आत्मा हो । ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को देखते हुए हम कह सकते है कि वह अविद्या का अनुभव नहीं कर सकता । अत शकर का निर्णय यही है कि अविद्या का आश्रय जीव है । "मै यह नहीं जानता", "मै वह नहीं जानता" इत्यादि रूपों मे जीव अविद्या का अनुभव करता है । शकर द्वारा किए गये ' अध्यास ' के विवेचन से भी यह स्पष्ट होता है कि अविद्या का आश्रय जीव ही है ।

---

1 शाकर भाष्य गीता ।3 2 (यस्य दृश्यते तस्यैव)

2 शाकर भाष्य गीता ।2 2 (दृश्यते चेदविद्या पश्यति)

3 शाकर भाष्य श्वेताश्वतर उपनिषद्, सम्बन्ध - भाष्य

9 **अध्यास -**

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों मे अध्यास की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से दी गई है । उदाहरणार्थ- न्याय-वैशेषिक दर्शन मे अध्यास की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि - "किसी वस्तु के गुणों को किसी अन्य वस्तु पर आरोपित करना अध्यास है ।"[1] मीमासकों के अनुसार- ' अध्यास ऐसा दोष है, जिसके कारण एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोपण पहिचान मे नहीं आता है ।[2] माध्यमिक बौद्धों के अनुसार - "किसी वस्तु के गुणों के विपरीत अन्य गुणों का दिखाई देना अध्यास कहलाता है ।"[3] अध्यास की इन सब परिभाषाओं के साथ इस प्रकार की अन्य परिभाषाओं पर विचार करे तो हम कह सकते है कि किसी वस्तु विशेष पर किसी अन्य वस्तु के गुणों को देखना अध्यास कहलाता है । अत शकर ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि - "स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास " अर्थात् पहले देखी हुई किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु मे स्मृतिरूप से आभास होना ही अध्यास है ।[4] इस परिभाषा मे भामती के अनुसार शकर ने ' स्मृतिरूप ' पद इसलिए जोडा है ताकि उन तथ्यों को अध्यास से अलग रखा जा सके, जिनमे कोई पहले देखी हुई वस्तु किसी अन्य वस्तु या स्थान मे पहचान ली जाती है ।[5] ' रत्नप्रभा ' के लेखक श्री गोविन्दानन्द ने ठीक ही कहा है कि

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, उपोद्घात

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, उपोद्घात

3 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, उपोद्घात

4 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, उपोद्घात

5 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र (थीबो अनुवाद, टिप्पणी - पृ0 - 4)

वास्तव मे, अध्यास की इस परिभाषा मे मुख्य बात है - परत्र अवभास ।[1] अध्यास का एक उदाहरण है रज्जु मे सर्प की भ्रान्त प्रतीति । सर्प वास्तव मे वहाँ उपस्थित नहीं है । यद्यपि सर्प को पहले कभी अवश्य देखा होगा, किन्तु अध्यास के समय वह हमारी इन्द्रियों के सम्पर्क मे नहीं होता है । केवल ससार के रूप मे सर्प का अस्तित्व हमारे मन मे माना जा सकता है । हमारी नेत्र-इन्द्रिय के सम्पर्क मे तो रस्सी ही आती है जो वहाँ प्रस्तुत होती है, किन्तु हमारी चेतना मे सर्प की प्रतीति होती है । दूसरे शब्दों मे कह सकते है कि रज्जु पर सर्प आरोपित है । शकर के अनुसार अध्यास एक ऐसा तथ्य है, जिसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते । यह अध्यास केवल भ्रामक प्रतीतियों मे ही नहीं होता वरन् आत्मा एव अनात्मा के मिथ्या तादात्म्य मे भी देखा जाता है । इस प्रकार का अध्यास हमारे समस्त सासारिक अनुभवों का एक अग है । शकर ने पहले प्रकार के अध्यास से इस अध्यास को अधिक महत्वपूर्ण समझा है । इसी अध्यास की समस्या को लेकर उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर अपना भाष्य प्रारम्भ किया है, इसी से उसकी महत्ता सिद्ध हो जाती है ।

आचार्य शकर लिखते है कि इस बात को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि यद्यपि युष्मद् (तुम) और अस्मद् (मैं) प्रत्यय-विषय और विषयी रूप होने से अन्धकार और प्रकाश की भाति विरूद्ध स्वभाव वाले है, तथापि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो भ्रम से इन दोनों को एक समझता

---

1 रत्नप्रभा, 1 1 1

हा ।[1] शकर के अनुसार शरीर, इन्द्रियॉ और मन आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि ये वस्तुए उसी प्रकार ज्ञान के विषय है, जिस प्रकार कोई वृक्ष, मेज या कुसी हो। हमारी आत्मा इन सबकी ज्ञाता है ।[2] फिर भी क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो शरीर, इन्द्रियॉ और मन को आत्मरूप न समझता हो ? जब कोई व्यक्ति कहता है कि मै मोटा हूँ, दुबला हूँ, गोरा हूँ, आदि-आदि तो वह अपने शरीर के धर्म आत्मा पर आरोपित करता है । जब वह कहता है कि मै बहरा हूँ, मै अन्धा हूँ, तो वह इन्द्रियों के धर्म अपनी आत्मा पर आरोपित करता है । इसी प्रकार जब वह अपने को इच्छा, अभिप्राय, सन्देह या निश्चय का विषय कहता है तो वह अपनी आत्मा पर अपने अह को आरोपित करता है । इसके विपरीत वह अपनी अन्तरात्मा को अन्त करण और इन्द्रियों आदि पर आरोपित करता है । इस प्रकार भ्रान्त प्रत्यक्ष के रूप मे प्रतीत होने वाला यह अनादि और अनन्त अध्यास चला करता है । यही अध्यासकर्ता और भोक्ता रूप मे प्रतीत होने वाले जीवों का कारण है। सभी लोग इसका अनुभव करते है । शकर के अनुसार इस अध्यास को ही ज्ञानी अविद्या कहते है ।[3] ब्रह्मज्ञान द्वारा इस अध्यास या अविद्या का नाश करना ही उपनिषदों का लक्ष्य है ।[4] इस प्रकार शकर स्पष्ट कर देते है कि अनादि अविद्या का अस्तित्व उन्हीं लोगों के लिए है जो अज्ञानी है, जिन्हे आत्म-साक्षात्कार हो चुका है, उनके लिए इनका कोई अस्तित्व नहीं है । ब्रह्म मे इसका अस्तित्व सभव ही नहीं है । अत शकर के अनुसार जीव ही अविद्या का आश्रय है ।

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, उपोद्घात

2 उपदेश सहस्री 1, 34-35

3 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 1 1 1 (थीबो के अग्रेजी अनुवाद के आधार पर)

4 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 1 1 1 (आस्यानर्थहेतो आरभ्यन्ते)

शकराचार्य, अध्यास या अविद्या को एक तथ्य मानते है । यह केवल कल्पना नहीं है । अत इसके लिए किसी प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं है। फिर भी शकर तर्क मे इतना विश्वास करते है कि उन्होंने आत्मा पर अनात्मा के अध्यारोपण पर सभी सम्भाव्य प्रश्न उठाये है और उनके उत्तर दिये है । वे प्रश्न करते है कि प्रत्यगात्मा इन्द्रियादि का अविषय होने के कारण अन्त करण आदि के अध्यास का विषय कैसे हो सकता है ? इस विषय मे मुख्यत दो कठिनाइयाँ है । एक तो, आत्मा ज्ञान का विषय नही है, दूसरे, कोई वस्तु उसी पर आरोपित की जा सकती है, जो हमारी इन्द्रियों के सम्पर्क मे आती है । प्रथम कठिनाई के सम्बन्ध मे शकर का कहना है कि आत्मा बिल्कुल अविषय नही है क्योंकि व्यक्ति के अह की चेतना मे विषय के रूप मे इसकी प्रतीति होती है । सभी लोगों मे आत्मा अपने को व्यक्त कर रही है । सभी जीवधारियों को इसका साक्षात् अनुभव होता है । दूसरी कठिनाई के प्रति शकर कहते है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि वस्तु, जिस पर कोई दूसरी वस्तु आरोपित होती है, हमारी इन्द्रियों का विषय हो ही । जैसे - आकाश, इन्द्रियों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, फिर भी बाल-बृद्धि के लोग उस पर नील-वर्ण, आरोपित करते है ।[1]

वस्तुत , किसी निर्बल तर्क के आधार पर नहीं वरन् सामान्य अनुभव की सुदृढ भूमि पर उन्होंने अपना सिद्धान्त स्थापित किया है । उनका मत है कि - अध्यास एक ऐसा तथ्य है जिसे हर व्यक्ति अपने प्रत्येक क्षण के अनुभव

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, उपोद्घात ।

से समर्थित करता है । उन्होंने यह नहीं बताया कि यह कब और कैसे होता है । अध्यास, सचमुच एक त्रुटि है और त्रुटि, बुद्धिगम्य न होने के कारण उसकी तर्कीय व्याख्या नहीं हो सकती है । केवल यही कहा जा सकता है कि अविद्या या अज्ञान के कारण अध्यास उत्पन्न होता है, किन्तु अविद्या स्वय अव्यारव्येय है। अविद्या के द्वारा हम इसकी व्याख्या नही कर सकते क्यों कि विद्या और अविद्या व्याघाती पद है । इसी कारण ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय या कारण नहीं कहा जा सकता है ।

ब्रह्म पर अविद्या को आरोपित करने का अर्थ, होगा उसक सच्चिदानन्द स्वरूप का विरोध या व्याघात करना । यदि हम यह कहते है कि अविद्या ही अविद्या का कारण है तो इसमे अनवस्था दोष आ जाता है । अत इनमे से प्रत्येक प्रकार से अविद्या की व्याख्या नहीं हो सकती । यह भी नहीं कहा जा सकता कि अविद्या की उत्पत्ति जीवों मे होती है । इसका कारण है कि एक तो हम जीवों की ही अविद्या का कारण या आश्रय खोजने निकले है और दूसरे, जीवों से अविद्या की उत्पत्ति बताना कदापि तर्क सगत नहीं है । जीव को हम तब तक जीव कह ही नहीं सकते जब तक कि उसके साथ अविद्या का सम्पर्क न हो । सही अर्थ मे न तो जीवों को ही अविद्या का कारण माना जा सकता है और न हम अविद्या को जीवों का कारण बता सकते है । अत यह कह सकते है कि शकर अव्याख्येय अविद्या की व्याख्या के चक्कर मे नहीं पडते है । फिर भी अविद्या के तथ्य को तो स्वीकार करना ही पडेगा क्योंकि इसके बिना अध्यास

की व्याख्या नहीं की जा सकती । यदि अविद्या को मानना ही है तो इसे केवल अनादि मानना पडेगा । यद्यपि अविद्या अपने मे बुद्धि गम्य नहीं प्रतीत होती, किन्तु इसकी मान्यता हमारी तर्कबुद्धि की एक बडी आवश्यकता को पूरा करती है ।

*****

अध्याय - 6

अशुभ की समस्या

अध्याय - 6

अशुभ की समस्या

1 अशुभ का अर्थ -

हम अपने दैनिक जीवन मे प्राय 'अशुभ' शब्द का प्रयोग करते है और यह मानते है कि इस शब्द के अर्थ से भली भाँति अवगत है, किन्तु वास्तव मे दार्शनिक दृष्टि से इसका कोई निश्चित तथा सर्वमान्य अर्थ बताना कठिन है। इसका कारण यह है कि विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से 'अशुभ' के अर्थ की विवेचना की है । परन्तु अशुभ के अर्थ के विषय मे इस दार्शनिक कठिनाई के होते हुए भी हम यह कह सकते है कि सामान्यत अशुभ वह है जो प्राणी अथवा प्राणियों के लिए दुखद अहितकर या अमगलमय है । इस अर्थ मे ' अशुभ ' को ' बुराई ' का पर्यायवाची शब्द माना जा सकता है । स्पष्ट है कि इस विशेष अर्थ मे ' अशुभ ' केवल विशेषण ही नहीं, अपितु भाववाचक सज्ञा भी है । मनुष्य द्वारा जानबूझकर किए गए दुराचरण और किसी प्राणी को होने वाले ऐसे दुख अथवा कष्ट को सामान्यत ' अशुभ ' या ' बुराई ' कहा जाता है जो न्यायोचित नहीं है, अर्थात् जिसका वह अधिकारी नहीं है । यह दुख शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी । इस दुख का स्रोत या कारण चाहे कुछ भी हो, इसे ' बुराई ' या ' अशुभ ' ही माना जाएगा । इस प्रकार अशुभ मनुष्य का दुराचार तथा प्राकृतिक या मानवीय कारणों से उत्पन्न वह शारीरिक अथवा मानसिक दुख है जिसका कोई प्राणी अनुभव करता है और जिसके लिए वह स्वय उत्तरदायी नहीं है ।

यह सर्वविदित तथ्य है कि शारीरिक पीडा अथवा मानसिक दुख के रूप मे अशुभ ससार मे सर्वत्र व्याप्त है । इस विश्व मे ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो कभी न कभी कम या अधिक मात्रा मे दुख का अनुभव न करता हो। सभी पशु-पक्षी तथा मनुष्य आधी, तूफान, बाढ, भूकम्प, सूखा, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक विपदाओं और अनेक प्रकार के शारीरिक या मानसिक रोगों एव अपने प्रियजनों की असामयिक मृत्यु के कारण प्राप्त होने वाले दुख के रूप मे निरन्तर अशुभ का अनुभव करते है । इस दृष्टि से विश्व मे अशुभ की व्यापक उपस्थिति यथार्थ कटु सत्य है, जिसकी कोई भी विचारशील व्यक्ति उपेक्षा नहीं कर सकता । इस प्रकार हम कह सकते है कि अशुभ कोइ रहस्यमयी वस्तु न होकर मानवीय दुराचरण और शारीरिक या मानसिक दुख के रूप मे समस्त प्राणियों के साक्षात् अनुभव का विषय है ।

2 अशुभ भारतीय दार्शनिकों के विचार -

प्राय समस्त भारतीय दार्शनिक (चार्वाक को छोडकर) अशुभ को एक गम्भीर समस्या स्वीकार करते है तथा उससे मुक्ति पाना जीवन का चरम लक्ष्य मानते है । दुख या क्लेश के नाना रूप अथवा जिनके परिणाम स्वरूप इनकी प्राप्ति होती है, सभी अशुभ है । यदि हम चार्वाक दर्शन पर दृष्टिपात न करे तो यह आसानी से कह सकते है कि - "प्रत्येक दर्शन चाहे वह श्रुति - सम्मत हो अथवा श्रुति-विरोधी, जीवन को अन्धकारमय बनाने वाले दुखों (अशुभों) को देखकर उत्पन्न हुए आध्यात्मिक असन्तोष के कारण ही दार्शनिक - चिन्तन मे प्रवृत्त हुआ

है ।"[1] कष्ट और पीडा, व्याधि तथा मृत्यु रूप मे अशुभ को ही देखकर राजकुमार गौतम भिक्षु बन गये और उन्होंने एक महान बौद्ध दर्शन की नीव रखी । बुद्ध न दुख को चार आर्य सत्यों मे से एक बताया । साख्य - कारिका मे भी तीन प्रकार के दुखों के अनुभव को ही दुख का कारण जानने की इच्छा का स्रोत माना गया है ।[2]

वास्तव मे, भारतीय दार्शनिकों के अनुसार अशुभ की समस्या एक शाश्वत समस्या है और उसका समाधान हमारे जीवन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है । इन चिन्तकों के अनुसार विश्व अपने जिस रूप मे है, वैसा रहते हुए अशुभ से कभी छुटकारा नहीं पा सकता है ।[3] अतएव मोक्ष प्राप्त करना अथवा ससार के समस्त दुखों से छुटकारा पाना प्राय सभी विद्वानों के द्वारा एक मत से मानव-जीवन का चरमलक्ष्य माना गया है । यद्यपि इस अवस्था को विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न - भिन्न नाम से अवश्य पुकारा है, किन्तु जहाँ तक दुख तथा अशुभों से छुटकारा पाने का प्रश्न है, वे सभी एक मत है । जिस प्रकार सभी लोग एक मत से इस तथ्य को स्वीकार करते है कि ससार मे अशुभ विद्यमान है, उसी प्रकार वे सब यह भी मानते है कि मोक्ष प्राप्त होने पर सभी दुखों का अन्त हो जाता है ।

---

1 चटर्जी एण्ड दत्त एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलासफी, पृ0 - 13

2 साख्यकारिका (दुखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ)

3 डॉ0 आत्रेय, फिलासफिकल क्वार्टरली, अक्टूबर 1932, पृ0 - 245

समस्त भारतीय दार्शनिक इस बात पर भी सहमत है कि अशुभ से मुक्ति पाने के लिए अशुभ का कारण जानना भी आवश्यक है और लगभग सभी दार्शनिकों ने अविद्या को बन्धन का कारण स्वीकार किया है तथा बन्धन को ही अशुभ का कारण माना है । अतएव सभी विचारक किसी न किसी प्रकार के ज्ञान को ही मनुष्य के लिए दुखों से मुक्ति पाने का साधन मानते है ।

यद्यपि, इसमे सन्देह नहीं कि विभिन्न दार्शनिकों ने अशुभ उत्पन्न करने वाली इस अविद्या का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है किन्तु इस बात मे सभी सहमत है कि अविद्या के कारण ही लोग बन्धन मे है और दुख भोगत है । आचार्य शकर इस बात पर सबसे अधिक बल देते है कि अशुभ की उत्पत्ति अविद्या के कारण होती है ।

3 अशुभ पाश्चात्य मत -

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों के मतानुसार - "मनुष्य के विचार एव उसकी पहुँच के बाहर की इच्छाए ही अशुभ का मूलकारण प्रतीत होती है ।"[1] इसका अर्थ या तो यह हो सकता है कि मनुष्य के विचार और उसकी इच्छाए स्वय ही अनपेक्षित है या कहीं कुछ ऐसे प्राणी है जो मनुष्य के लिए अशुभ की रचना किए करते है । वे यह नहीं देख सकते कि मनुष्य अपने उत्थान के लिए प्रयत्न करे । इसलिए मनुष्य जब अपने उत्थान के लिए प्रयत्न करता है तो वे

---

1 दि नेचर ऑफ ईविल , पृ0 - 11

प्राणी ईर्ष्यावश मनुष्य के लिए अशुभ भेजा करते है । अशुभ के विषय मे इस प्रकार की परिकल्पना, जिसकी दो मे से किसी प्रकार की व्याख्या की जाय बहुत ही सरल एव अपरिपक्व प्रतीत होती है । यह धारणा अनुचित प्रतीत होती है कि धार्मिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक आदर्शो की प्राप्ति के लिए सोचना या उनके लिए उचित प्रयत्न करना स्वय अशुभ है या उनसे अशुभ की उत्पत्ति होती है। वस्तुत यह धारणा हमारे अन्तर्तम की आवाज के प्रतिकूल है । इससे हमारी नैतिक भावना को हानि पहुँचती है, किन्तु यूनानी विचारक अशुभ का कारण मनुष्य के अशुभ विचार या अशुभ इच्छाए न मानकर स्वय विचारों और इच्छाओं को ही अशुभ मानते है । यदि विचार करना या इच्छा करना स्वय अशुभ है तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि मनुष्य के बजाय निम्न कोटि का प्राणी होना ही अच्छा है । परन्तु ऐसा मानना मिल द्वारा किए गये सभी प्राणियों के इस मूल्याकन के विरूद्ध होगा कि- "सन्तुष्ट सूकर होने की अपेक्षा असतुष्ट मनुष्य होना अच्छा है, एक मन्तुष्ट मूर्ख होने की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना अच्छा है ।"[1] अशुभ की दूसरी व्याख्या यह की गई है कि मनुष्य की अपेक्षा किन्ही श्रेष्ठ प्राणियों द्वारा अशुभ मनुष्य के लिए भेजे जाते है । ठीक ऐसा ही विचार पारसी धर्मानुयायियों का भी है, उनके अनुसार अर्हमान (देवता) ही समस्त अशुभ का जन्मदाता है ।

प्लेटो, समस्त नैतिक सत्ता को अपने सत् प्रत्यय-ससार की छायामात्र मानता है । उसने पुद्गल को तर्कबुद्धि की पूर्णता प्राप्त करने मे बाधक तथा विश्व

---

1 यूटीलिटेरियनिज्म, पृ0 - 14

मे अपूणेता, त्रुटि और अशुभ का कारण माना है ।[1] प्लाटिनस, प्लेटो के भी आगे बढ जाता है । "वह पुद्गल को ही अशुभ मानता है । इस विश्व मे सारे अशुभ उसी से उत्पन्न होते है । आत्मा मे अशुभ का प्रवेश शरीर से ही होता है ।"[2] पुद्गल से हमारा सम्बन्ध होने के कारण ही हमारे सारे अशुभ उत्पन्न हुए है। अशुभ मुख्य रूप से पुद्गल मे ही है । अत आत्मा की दुर्बलता और उसके अशुभों का कारण पुद्गल ही है । दुर्बलता और दुर्गुण से पहले अशुभ विद्यमान रहता है, वही मूल अशुभ है ।[3]

अशुभ सम्बन्धी इन विचारों की तुलना शाकर धर्म-दर्शन से भी की जा सकती है । परमतत्व पूर्णत शुद्ध है, मनुष्य की आत्मा भी तत्वत शुद्ध है और यह विश्व परमतत्व की छाया या प्रतीति मात्र है - ये कथन शकर की विचारधारा के अनुरूप ही है । जहाँ तक अशुभ का प्रश्न है, हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि आत्मा को तत्वत शुद्ध मान लेने पर पुद्गल के साथ आत्मा का ससगे होने पर ही अशुभ की उत्पत्ति होगी । यही अशुभ उन अनेक अशुभों का मूलकरण है जो इस विश्व मे तथा हमारे जीवन मे देखने मे आते है । यह एक अनुभूत तथ्य है कि हम अपने शरीर से तादात्म्यभाव रखते है । इसी तादात्म्य के कारण हम एक ओर ' मै ' और ' मेरे ' तथा दूसरी ओर ' तुम ' और ' तेरे '

---

1 दि नेचर ऑफ ईविल, पृ0 - 14

2 दि नेचर ऑफ ईबिल, पृ0 - 24

3 दि नेचर ऑफ ईविल पृ0 - 25

का भद करते है । यही भेद हममे से अनेक लोगों को अन्याय और निर्दयतापूर्ण कार्य करने को बाध्य करता है । हम ऐसे कार्य केवल व्यक्तियों के बीच ही नहीं करते, वरन् सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय स्तर पर भी किया करते है । यदि शरीर के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित होने के कारण ये अनेक विभाजक दीवारे न बनी होती तो यह ससार कितना अच्छा होता । आत्मा के साथ शरीर का बधन ही सभी सुख-दुखों का हेतु है । यही तथ्य शकर भी स्वीकार करते है । वे उपनिषदों के इस मत से पूर्ण सहमत है कि जो शरीर से छुटकारा पा जाता है उसे सुख-दुखों से भी मुक्ति मिल जाती है ।[1]

मानववादियों और अर्थक्रियावादियों के अनुसार इस ससार मे अशुभ अन्य वस्तुओं की तरह यथार्थ है । वे समझते है कि अशुभ एक वास्तविक क्रियाशील तत्व है । वह उन शक्तियों के विरोध मे सक्रिय है जो उसे मिटाने के लिए तत्पर है । वे इस बात से सन्तुष्ट है कि एक ससीम ईश्वर मनुष्य की बुद्धि और शक्ति की सहायता से शैतान की शक्तियों के विरोध मे सघर्ष कर रहा है ।[2] उनके अनुसार यदि ईश्वर और मनुष्य मिलकर प्रयत्न करते है तो वे ससार से अशुभ को मिटाने मे सफल हो जायेगे और इस प्रकार विश्व को सुधारने मे सफल होंग। उनके अनुसार हमारा कर्त्तव्य यह पूछना नहीं है कि "अशुभ का अस्तित्व क्यों है ?" बल्कि यह देखना है कि "हम उसे कम कैसे कर सकते है ?"

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, । । 4

2 दि फिलासफिकल क्वार्टरली, अक्टूबर 1932, पृ0 - 244

ब्रैडले के अनुसार अशुभ भी अन्य ससीम वस्तुओं की भाति आभास-जगत् के अन्तर्गत ही है । किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसका कोई महत्व नहीं है । हमारे ससीम अनुभव के जगत् मे अशुभ को अन्य वस्तुओं की भाति ही सत्य मानना चाहिए । ब्रैडले के अनुसार अशुभ तीन वर्गो मे विभाजित हो सकते है - (1) पीडा जैसे अशुभ, (2) लक्ष्य प्राप्त करने मे असफल होने जैसे अशुभ, और (3) अनैतिकता की कोटि मे आने वाले अशुभ ।[1]

दुख के विषय मे ब्रैडले का मत है कि ससार मे दुख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक है । ब्रैडले इस ससार मे दुख की अपेक्षा सुख की अधिकता के आधार पर ही निरपेक्ष मे सुख की अत्यधिक मात्रा सिद्ध करता है । उसके अनुसार निरपेक्ष मे दुख रूपी अशुभ का निराकरण या विनाश नहीं होता वरन वह निरपेक्ष मे विलीन हो जाता है या कुठित हो जाता है । ब्रैडले इस सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहता कि यह दुख रूपी अशुभ ससार मे क्यों है ? उसके अनुसार "दुख का वास्तविक अस्तित्व है" और "किसी न किसी प्रकार वह स्वय निरपेक्ष से सलग्न है या उसके अन्तर्गत वर्तमान है ।"[2]

ब्रैडले का विश्वास है कि दुरूपयोग, असफलता और भ्रम के रूप मे अशुभ एकागी लक्ष्यों के हमारे गलत चयन के कारण होते है । वे कहते है कि निरपेक्ष की दृष्टि से इस प्रकार के अशुभ कदाचित् अशुभ होते ही नहीं,

---

1 एपीयरेस एण्ड रियल्टी, पृ0 - 174

2 एपीयरेस एण्ड रियल्टी, पृ0 - 175-176

क्योंकि एकागी लक्ष्य की प्राप्ति मे हमारी असफलता किसी अन्य बडे उद्देश्य की पूर्ति करने वाली हो सकती है । उसके शब्दों मे "जिन उद्देश्यों की प्राप्ति मे हम असफल रहते है, उनका चयन हमारे द्वारा ही किया जाता है और यह चयन लगभग गलत ही होता है । जिस सीमित रूप मे हम उन्हे लेते है, वे एकागी होते है और यदि उन्हे बडे उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य मे देखा जाय तो वे हमारी असफलता नहीं प्रतीत होते है । नि सन्देह मेरा अभिप्राय यह नही कि प्रत्येक ससीम लक्ष्य अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है । मेरा अभिप्राय यह है कि एक ऐसे वृहत्तर प्रत्यय मे खोकर वह एक तत्व बन जाता है जो कि अस्तित्व के साथ तादात्म्य रखता है । यहाँ तक कि हमारी एकागिता, हामरा आग्रह और हमारी निराशा किसी न किसी प्रकार सामञ्जस्य के अन्तर्गत आते है और उसको पूर्ण बनन मे सहायक सिद्ध होते है । प्रत्यय और अस्तित्व के दोनों पक्ष एक ऐसी विशाल परिपूर्णता मे सयुक्त हो जाते है, जिससे अशुभ और लक्ष्य सभी विलुप्त हो जाते है ।"[1]

नैतिक अशुभ अथवा अनैतिकता के विषय मे ब्रैडले का विचार है कि नैतिकता मे व्यक्ति और उसके लक्ष्य अर्थात् निम्न स्व और उच्च स्व के बीच की विसगति या विरोध ही निहित नहीं रहता वरन् व्यक्ति मे सघर्ष की भावना भी विद्यमान रहती है । इस सम्बन्ध मे वे स्वय कहते है कि हम व्यक्ति मे

---

1 एपीयरेस एण्ड रियल्टी, पृ0 - 177

एक प्रत्यय पात है, एक लक्ष्य साकार होना चाहता है और दूसरी ओर उस व्यक्ति का अस्तित्व भी है । यह अस्तित्व केवल सवादिता मे ही असफल नही रहता है, बल्कि उल्टे सघर्ष भी करता है और एक टकराव की अनुभूति होती है । हम अपने अन्दर शुभ और अशुभ इच्छाओं का सघर्ष अनुभव करते है और अशुभ का यथार्थ अस्तित्व देखते है ।" वे आगे कहते है "नैतिक अशुभ का अस्तित्व केवल नैतिक अनुभव मे ही प्रतीत होता है और यह अनुभव अपने सार रूप मे विसगतियों से पूण है । नैतिकता अनजाने मे ही अशुभ के दमन के साथ पूर्णरूप से अनैतिक होने की इच्छा करती है । वह इस लक्ष्य के पीछे जरूर हटेगी । किन्तु इस प्रकार वह बिना जाने ही अशुभ के अस्तित्व और उसके स्थिर बने रहने की इच्छा करने लगती है । अशुभ को जन्म देने वाली नैतिकता अशुभ मे स्वय अपने को मिटाना चाहती है । वह निश्चय ही प्रयत्नपूर्वक अनैतिक क्षेत्र मे प्रवेश पाना चाहती है ।"[1] ब्रैडले की यह कल्पना उन्हे यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि नैतिक अशुभ से नैतिक शुभ की प्राप्ति होती है, इसलिए वह अशुभ भी एक प्रकार से शुभ ही है ।

इस प्रकार, असफलता के अशुभ की भांति ही नैतिक अशुभ के विषय मे भी ब्रैडले अपने तर्क द्वारा यही दिखलाने का प्रयत्न करता है कि अशुभ का अस्तित्व केवल ससीम प्राणियों के लिए ही है और यह किसी रहस्यात्मक

---

1 एपीयरेस एण्ड रियल्टी, पृ0 - 178

अज्ञात विधि से येन-केन प्रकारेण अनशुभ मे परिणत हो जाता है । किन्तु दुख रूपी अशुभ के विषय मे ब्रैडले की मान्यता इसके विपरीत प्रतीत होती है क्योंकि वह कहता है कि निरपेक्ष मे दुख की मात्रा कितनी ही अधिक क्यों न हो किन्तु सुख की अपेक्षा वह बहुत कम रहता है । सुख की मात्रा हर हालत मे अधिक रहती है ।[1]

ब्रैडले के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वस्तुओं के प्रति हमारी अपूर्ण एव गलत दृष्टि तथा ससीमता ही सारे अशुभ का कारण है । यह दृष्टिकोण ससार मे अशुभ के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता है । जब तक हमारी दृष्टि ससीम, अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण है तब तक अशुभ का अस्तित्व भी कायम रहेगा । यह कहना कि ब्रैडले के दर्शन मे अशुभ को केवल आभास माना गया है, इसलिए उसकी यथार्थता नही है - ब्रैडले के सही मन्तव्य की अवहेलना करना है । ब्रैडले के अनुसार अशुभ एक आभास अवश्य है किन्तु ससार के अन्य तथ्य और वस्तुए भी तो आभास ही है । एक सामान्य व्यक्ति दोनों को ही सत्य मान सकता है। ब्रैडले को इस पर कोई आपत्ति न होगी । किन्तु जो विचारशील व्यक्ति वास्तविक सत्य और प्रतीत होने वाले सत्य मे भेद समझ सकता है, उसे ब्रैडले बतलाएगा कि ससार की सभी वस्तुए और उनके साथ अशुभ सत् कहलाने योग्य नहीं है । उनमे से कुछ भी सत् की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है । अशुभ के सम्बन्ध

---

1 एपीयरेस एण्ड रियल्टी, पृ0 - 174

मे विचार करने का जहाँ तक व्यावहारिक प्रश्न है, ब्रैडले इसे उतना ही सत्य मानता है, जितना विश्व के पदार्थो की सत्यता मे विश्वास रखने वाला कोइ भी व्यक्ति उसे सत्य मानेगा ।

फिर भी, यह कहना बिल्कुल असगत नहीं है कि ब्रैडले अन्य वस्तुओं की भाति अशुभ की भी उत्पत्ति का समुचित कारण बताने मे असफल रहा है । पूर्णत निरपेक्ष साकल्य मे अशुभ, त्रुटि या ससीमता जैसे आशिक आभास कैसे उत्पन्न हो जाते है ? इस प्रश्न का कोई सन्तोष जनक उत्तर नही दिया गया है ।[1] ब्रैडले ने इस ससार मे प्रतीत होने वाले अशुभों का कारण हमारी अपूर्ण और दोषपूर्ण द्रृष्टि मानी है और इस प्रकार की द्रृष्टि हमारे ससीम होने के कारण उत्पन्न होती है । किन्तु ब्रैडले ने इस प्रश्न के प्रति पूर्ण न्याय नहीं किया, कि इस ससीमता की उत्पत्ति कैसे हुई ? यही उसके दर्शन की सबसे बडी दुर्बलता है ।

4 अशुभ आचार्य शकर का मत -

(क) अशुभ एक यथार्थ तथ्य -

अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाति आचार्य शकर भी अशुभ को एक द्रृढ इन्द्रियानुभाविक तथ्य स्वीकार करते है । शकर ने केवल शारीरिक या

---

1 फिलासफिकल क्वार्टर्ली, अक्टूबर 1932, पृ0 - 243-44

मानसिक दुख के रूप मे ही अशुभ को नहीं माना है, वरन् वे अनैतिक विचार तथा कार्यो को भी अशुभ मानकर इस विश्व मे अशुभ की सत्ता व्यापक रूप से स्वीकार करते है । वस्तुत उन्हे यह ससार नाना प्रकार के शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक अशुभों से परिपूर्ण दिखायी पडता है । जन्म तथा जरा, मृत्यु और व्याधि[1], राग और द्वेष, भय एव चिन्ता आदि अनेक प्रकार के अशुभ ससार मे विद्यमान है, जिन्हे शकर के मतानुसार हम सभी अनुभव करते रहते है ।[2]

पाश्चात्य दर्शन मे जिसे नैतिक अशुभ की सज्ञा दी जाती है, उसे भारतीय दर्शन वाडमय मे पाप, अधर्म या अनर्थ[3] कहा जाता है । जब शकर ससार के पदार्थो के विषय मे सतत चिन्तन को हमारे सभी अनर्थों का कारण बताते है तो उनकी दृष्टि के सामने मुख्यत नैतिक अशुभ ही उठते है । उन्हे पूर्ण विश्वास है कि सासारिक पदाथो के विषय मे बार-बार सोचते रहने से मन मे उनके पाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है और यह इच्छा ही उस व्यक्ति को पाप करने के लिए प्रबल प्रेरक सिद्ध होती है । अत अशुभ से शकर का तात्पर्य केवल शारीरिक पीडा या मानसिक दु ख ही नहीं है वरन् वे नैतिक अशुभ भी है जो शारीरिक एव मानसिक कष्टों से भी अधिक भयकर अशुभ कहे जा सकते है ।

---

1 शाकर भाष्य कठोपनिषद्, 2 5

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । 3 2

3 शाकर भाष्य गीता 2 63

शकर के अनुसार नैतिक अशुभ ही मनुष्य के इस जीवन मे और आगे आने वाले सभी जीवनों मे उसके कष्ट तथा दुखादि का कारण है । यही अशुभ व्यक्ति को जीवन के निम्न स्तर पर ले जाता है और जीवन के चरमलक्ष्य की प्राप्ति मे बाधक सिद्ध होता है ।[1]

(ख) शकर पूर्ण आशावादी है -

आचार्य शकर ससार मे अनेक प्रकार के अशुभ मानते है, किन्तु इसी कारण हम उन्हे निराशावादी नहीं कह सकते । वे केवल अशुभ को ही नहीं मानते वरन् विश्व मे तथा हमारे जीवन मे शुभ की सत्ता को भी स्वीकार करते है । उन्होंने एक ओर जगत् मे उपस्थित दुखों तथा अशुभों की निन्दा की है तो दूसरी ओर नैतिक शुभ के मूल्यों की प्रसशा भी की है । उन्हे ससार मे सुख-शान्ति जैसे मूल्य भी दृष्टिगत होते है । उनके अनुसार सुख तथा आनन्द भी वैसे ही अनुभव गम्य तथ्य है जैसे दुख और दर्द माने जाते है । यद्यपि वे सासारिक सुख एव समृद्धि को जीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य मानने को तैयार नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य उनकी उपस्थिति ही अस्वीकार करना नहीं है । निराशावादी वही कहलाता है जो जीवन और जगत् को दुखों से परिपूर्ण मानता है और उनसे छुटकारा पाना उसे सभव नही दिखाई देता है । शकर इस विचार का किचित् समर्थन नही करते है । वे तो इसके विपरीत एक बहुत बडे आशावादी है क्योंकि

---

1 शाकर भाष्य कठोपनिषद्, 2 24

वे इस जीवन मे ही परम आनन्द प्राप्त कर लेना मनुष्य के लिए सभव मानते है और उसके लिए प्रयत्न करने का महत्व भी स्वीकार करते है । उन्होंने जीवन और जगत की अपूर्णता या दुख इसलिए बढा-चढा कर बताए है कि जिससे हम इस ओर से परागमुख होकर जीवन के श्रेष्ठतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दृढतापूर्वक प्रयत्न करे । वे मानव-जीवन को आशावादी दृष्टि से देखते है । स्पष्ट है कि आचार्य शकर केवल बुराइयों की ही शिकायत नहीं किया करते, वरन् उच्चतम शुभ प्राप्त करने के लिए वे सभी को प्रेरित करते है और उसका मार्ग भी बताते है । अतएव ऐसे महापुरूष को निराशावादी कदापि नहीं कहा जा सकता ।

(ग) अशुभ का कारण -

शकराचार्य ने कहीं-कहीं पर अनुचित इच्छा, क्रोध, राग, आसक्ति, लोभ, स्वार्थ, अधर्म आदि को हमारे अशुभों का कारण स्वीकार किया है ।[1] उनके अनुसार हमारी अनुचित कामनाए ही हमारी सबसे बडी शत्रु है और उन्हीं से अशुभों का जन्म होता है ।[2] इसमे कुछ भी सन्देह नहीं कि विश्व के अनेक अशुभ इन्हीं के कारण उत्पन्न होते है । यह तो मानना ही पडेगा कि अशुभों को जन्म देने वाले ये कारण विद्यमान न होते तो यह ससार अब से कही अच्छा होता ।

---

1 शाकर भाष्य गीता, 9 2। और शाकर भाष्य वृहदारण्यक उपनिषद् 4,4 5

2 शाकर भाष्य गीता 3 37

फिर भी यह कहा जा सकता है कि हमारे सभी अशुभ इन्ही कारणों से उत्पन्न नही होते है । यह प्रश्न किया जा सकता है कि भूचाल, महामारी भीषण जलवृष्टि आदि का हमारी अनुचित कामनाओं से क्या सम्बन्ध है ? सत्य तो यही है कि इनमे कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु शकर की भाति कर्मवाद मे अटूट निष्ठा रखने वाले व्यक्ति के लिए इसका उत्तर देना कठिन नहीं है । अन्य अशुभों की भाति इन अशुभों की व्याख्या भी अशुभ इच्छाओं से उत्पन्न अशुभ कर्मो के द्वारा की जा सकती है । अशुभ की उत्पत्ति के विषय मे दो ही विकल्प हो सकते है - या तो वे हमारे अर्जित किए हुए न होकर किसी अन्य कारण से आते है या फिर वे हमारे ही किए हुए पूर्व कर्मो के परिणाम है । इन विकल्पों मे से एक को उचित ठहराने के लिए हमारी इन्द्रियानुभविक विधिया, निरीक्षण आदि से कोई सहायता नहीं मिल सकती है । हम केवल अपनी नैतिक चेतना का ही सहारा ले सकते है और उसके आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सभी अशुभ हमारे ही पूर्व कर्मो के फल है ।

इस प्रकार शकर के अनुसार अन्य अशुभ (महामारी, भूचाल आदि) भी नैतिक अशुभ के अन्तर्गत आते है । हमारे सभी कष्ट और सभी दुख चाहे जब और चाहे जैसे मिलते हों, हमारे ही अशुभ कर्मो के परिणाम है । न कोई देवता या दैत्य और न इन दोनों से भिन्न पुद्गल ही हमे कोई ऐसा फल दे सकता है, जिसे हमने स्वय अजित न किया हो । नैतिकता की इतनी प्रबल अवधारणा पाश्चात्य दर्शन मे भी कहीं उपलब्ध नहीं होती ।

अधिकाश पाश्चात्य दार्शनिक सकुचित दृष्टि तथा उससे उत्पन्न सकुचित स्वार्थ को ही अशुभ का कारण मानते है । ब्रैडले ने भी स्वीकार किया है कि अशुभ का मूलकारण हमारी ससीम, अपूर्ण और दोषपूर्ण दृष्टि ही है । मैकन्जी के शब्दों मे- " प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक जीवन स्वत एक विश्व है । यह विश्व वृहद् हो सकता है और सकुचित भी । इसके सकुचित होने पर द्वन्द्व की उत्पत्ति होती है । इसी के कारण हम व्यष्टि के शुभ को समष्टि के शुभ से भिन्न मान बैठते है ।"[1] वास्तव मे, अपने शरीर और जिनको हम अपना समझते है उनके प्रति हमारी आसक्ति और दूसरों के प्रति उदासीनता या घृणा आदि के भाव हमारी सकुचित दृष्टि के कारण उत्पन्न हुआ करती है, क्योंकि हम इसका स्वय अनुभव करते है । अपनी आत्मा के प्रति विस्तृत दृष्टिकोण अपनाना ही नैतिक दृष्टि से अच्छा बनना है । डॉ0 टैगोर के शब्दों मे- "शुभ जीवन यापन का अर्थ है सभी लोगों के जीवन मे सम्मिलित होकर रहना । सुख केवल अपने लिए होता है किन्तु शुभ का सम्बन्घ मानव-मात्र के सर्वकालिक आनन्द से होता है । पूर्णत शुभ जीवन यापन करने का अर्थ है - असीमता मे अपने जीवन की अनुभूति प्राप्त करना ।"[2]

विचारकों के इस सामान्य अनुभव को स्वीकृत करते हुए ही आचार्य शकर ने अपना सिद्धान्त निर्मित किया है और शरीर के साथ आत्मा का मिथ्या

---

1 ए मैनुअल ऑफ एथिक्स, पृ0 - 419

2 डॉ0 टैगोर, साधना पृ0 - 56-57

तादात्म्य को सभी अशुभों का मूलकारण माना है ।[1] शकर के अनुसार यह अध्यास स्वाभाविक है और सभी जीवधारियों की प्रकृति मे गहरी जड जमाए हुए है । फिर भी इसे सत् नहीं माना जा सकता क्योंकि शकर ने कहा है कि यह केवल ज्ञाता और ज्ञेय के बीच ज्ञान की एक प्रकार की गडबडी के कारण उत्पन्न हो गया है । उनके अनुसार ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं हो सकता और न ज्ञेय कभी ज्ञाता हो सकता है । अतएव शरीर के साथ आत्मा के तादात्म्य को, और कुछ नहीं, केवल अज्ञान मानना पडेगा । इसी अज्ञान के कारण हम किसी के साथ राग तो किसी के साथ द्वेष करने लगते है । इसी सकुचित दृष्टि के कारण हम दूसरों के साथ अन्याय का व्यवहार करते है अथवा समाज विरोधी तथा मानवता-विरोधी काम करते है । इसके परिणामस्वरूप हम अपने अनैतिक कर्मो का फल भोगते है । अतएव स्पष्ट है कि आचार्य शकर को अज्ञान के अतिरिक्त अशुभों का कोई अन्य तर्क सगत कारण दिखायी नहीं देता है ।

शकर का मत है कि जब तक यह अज्ञान विद्यमान है अशुभ से आत्यन्तिक निवृत्ति की बात सोचना व्यर्थ है । यदि कोई व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन मे कोई अनैतिक कार्य बिल्कुल न करे तो भी उसे अपने पूर्व जीवनों मे किए हुए अगणित कमो का फल निश्चित रूप से भोगना होगा । उसके पूर्व जीवन के कार्य और जो कर्म उसे इस जीवन मे करने पडते है, उसे निरन्तर बन्धन मे

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, प्रस्तावना तथ 2 3 46

डाले रहेगे । बन्धन स्वय एक बहुत बडी बुराई है । शकर के अनुसार कर्म चाहे भले किए जायँ अथवा बुरे, किन्तु केवल कर्मों के द्वारा कोई बन्धन से छूट नहीं सकता ।[1] इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि शुभ कर्म किसी काम के नहीं है । इसके विपरीत वे लोक एव परलोक मे सुखी जीवन के लिए अपरिहार्य तो है ही, ज्ञान या अनुभव प्राप्त करने के लिए भी उनकी नितान्त आवश्यकता है। ज्ञान से ही उस अनादि अविद्या का अन्त हो सकता है, जो सभी प्रकार की अशुभों का मूलकारण है । केवल आवश्यक यह है कि ये कर्म अनासक्त भाव से किए जाएँ, केवल कर्त्तव्य समझकर किए जायँ और उनके फल की इच्छा कदापि न की जाय । अनासक्त भाव से किए गये कर्म हमारे मन तथा हृदय को सभी विकारों से रहित कर देगे और इस प्रकार ज्ञान का प्रकाश अवतरित होने के लिए भूमि तैयार हो जाएगी । ज्ञान हमे अविद्या के अन्धकार से मुक्त कर देगा । अविद्या दूर होने पर हमारे बन्धन टूट जाएगे और उसी के साथ अनादि कालिक सभी अशुभ विनष्ट हो जाएगे ।

अविद्या को अनादि कहने का यह अर्थ नहीं कि शकर उसे हमारे वास्तविक स्वरूप का अभिन्न अग मानते है । यदि उन्होंने ऐसा माना होता तो भला वे आत्मा के वास्तविक ज्ञान के द्वारा उसके विनाश की बात कैसे करते ? उनके अनुसार अविद्या से छुटकारा पाने की बात निराधार कामना मात्र नहीं है,

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, प्रस्तावना

और न वह इस ससार से बहुत दूर और बहुत समय बाद पूरी होने वाली है । वे तो इसके विपरीत यही कहते है कि जो लोग इसकी शर्ते पूरी कर लेंगे वे इसी ससार मे और इसी जीवन मे अविद्या से मुक्त हो जाएगे । इस तथ्य का आधार न तो अनिश्चित अनुमान है और न श्रुति-वाक्यों मे अन्ध-विश्वास ही है । यह तो असदिग्ध अनुभव का एक वास्तविक तथ्य है । उपनिषदों की भाति शकर के लिए यह एक तथ्यों का तथ्य तथा सभी सत्यों का एक परम सत्य है । वे जिस दृढविश्वास के साथ अपनी बात कहते है उसमे बिना किसी निश्चित और पर्याप्त आधार के सन्देह नहीं करना चाहिए । डॉ० टैगोर ने लिखा है कि बौद्धिक त्रुटि या अज्ञान का मूल तत्व क्षणिकत्व है क्योंकि पूर्णता से इसका मेल नही खाता है । वस्तुओं की समग्रता के द्वारा इसमे प्रत्येक क्षण सुधार होता रहता है और इस प्रकार उसमे परिवर्तन हुआ करता है ।[1] यदि ऐसा है तो इसमे क्या आश्चर्य कि जब हम सभी वस्तुओं से तादात्म्य या एकता का दृष्टिकोण स्थापित कर लेते है तो अज्ञान रूपी अशुभ पूर्णत छूट जाता है ।

(घ) शकर के अशुभ सम्बन्धी मत की समीक्षा -

अशुभ की उत्पत्ति का कारण अनादि अविद्या बताने का अर्थ है अशुभ को भी अनादि बताना । यदि अशुभ को जन्म देने वाली विद्या अनादि है तो अशुभ भी अनादि होगा ही । अविद्या स्वय एक अशुभ है । अतएव, अविद्या

---

1 डॉ० टैगोर, साधना , पृ० - 49

को अन्य अशुभों का कारण मानने पर अशुभ को ही अशुभ का अनादि कारण मान लिया जाता है । अत यह कहा जा सकता है कि यह अशुभ की व्याख्या नहीं हुई । किसी वस्तु को अनादि कहने का अर्थ है उसके कारण को खोजने मे असफलता या असमर्थता रही है । एक अशुभ की दूसरे अशुभ से व्याख्या करना अशुभ से अशुभ की व्याख्या करना है । पारिभाषिक शब्दावली मे इसे चक्रक दोष कहा जाता है । इसलिए शकर का अशुभ सम्बन्धी मत, जो अनादि अविद्या रूपी अशुभ को ही सभी अशुभों का मूलकारण बताता है, सन्तोषजनक नही प्रतीत होता है । यह मत अशुभ की व्याख्या न करके उसे अनिर्वचनीय मान लेता है। स्पष्ट रूप से भले यह न प्रतीत होता हो किन्तु अनादि कहने का अर्थ अनिर्वचनीय कहना ही है ।

यह सत्य है कि शकर सभी अशुभों का कारण अविद्या को मानते है, जो कि स्वय एक अशुभ है । उसे अनादि बताया गया है । किन्तु हमारे विचार से शकर के अशुभ सम्बन्धी मत का खण्डन करने के लिए यह तर्क पर्याप्त नहीं है । यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अशुभ के अतिरिक्त अशुभ का कारण और क्या हो ही सकता है ? हम शुभ को अशुभ का कारण नहीं मान सकते क्योंकि इससे शुभ मे आत्मा-व्याघात उपस्थित हो जाएगा । इससे हमारी तर्क बुद्धि को सन्तोष नहीं हो सकता है । इसके अतिरिक्त हम अशुभ की उत्पत्ति का कारण किसी तटस्थ वस्तु को भी नहीं मान सकते । शुभ - अशुभ से भिन्न किसी तटस्थ वस्तु को अशुभ का कारण मानने से कार्य-कारण का सिद्धान्त टूट

जाता है । तब तो यह कहना भी असगत न होगा कि - कोई भी वस्तु, किसी भी वस्तु से उत्पन्न हो सकती है । अत स्पष्ट है कि ऐसी व्याख्या का कोई आधार नहीं है । ऐसी स्थिति मे अशुभ की उत्पत्ति का कारण अशुभ मानना ही एकमात्र विकल्प रह जाता है । पारसी एव यूनानी दार्शनिकों ने भी अशुभ का कारण कोई न कोई अशुभ ही स्वीकार किया है । वे ईश्वर से अशुभ की उत्पत्ति नहीं मानते है । ईश्वर तो अशुभ से पूर्णत मुक्त है । अत अविद्या रूपी अशुभ को अन्य अशुभों का कारण मानना शकर के हित मे ही है । यह मान्यता शाकर - दर्शन के लिए घातक नहीं है ।

अन्य सभी अशुभों का मूल कारण अविद्या अनादि है और उसका पुन कोई दूसरा कारण नहीं है - यह मत उन व्यक्तियों को नहीं रूचेगा जो प्रत्येक वस्तु, यहॉ तक कि अन्तिम तत्वों का भी कुछ अन्य कारण ढूँढना चाहते है । वे यह नहीं समझते कि कुछ वस्तुए ऐसी भी है, जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती है । शकर द्वारा की गई अशुभ की व्याख्या उन लोगों को सही प्रतीत होगी जो एक अशुभ का कारण दूसरा और दूसरे अशुभ का कारण तीसरा अशुभ बताकर अनवस्था दोष मे नही फसना चाहते है । अशुभ का कारण पुद्गल या पारसियों की तरह किसी चेतन प्राणी को मानना भी उचित नहीं है । ईश्वर को सभी अशुभों का कारण मानना और भी अधिक त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है । हम यह भी स्पष्ट कर चुके है कि अशुभ की उत्पत्ति न शुभ से हो सकती है और न किसी ऐसी वस्तु से जो शुभ एव अशुभ दोनों से तटस्थ है । अत हमे अविद्या

को, जो स्वय एक अशुभ है, सभी अन्य अशुभों का कारण मानना अधिक सगत प्रतीत होता है । ऐसा करने मे हम चक्रक तर्क दोष मे भी नही पडते । यह कौन नही जानता कि घृणा से घृणा उत्पन्न होती है या स्वार्थपरता के नैतिक अशुभ से अन्य अनेक नैतिक और दूसरे प्रकार के अशुभ उत्पन्न होते है । अतएव मेरे विचार से ससार के सभी अशुभों का कारण अविद्या मानना और अविद्या को अनादि मानना भी कोई दोष नहीं कहा जाना चाहिए ।

इसमे सन्देह नहीं कि शकर ने सभी अशुभों का अन्तिम कारण अविद्या मानकर उसकी व्याख्या नही की है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि वे अन्य अशुभों की व्याख्या करने मे भी असमर्थ है । जहाँ तक अन्य अशुभों की व्याख्या का प्रश्न है, यह सहज ही कहा जा सकता है कि उसमे वे दोष नही आ सके है जो अन्य व्याख्याओं मे भी आ गये है । एक तो उनकी व्याख्या हमे अपने शुभ या अशुभ कर्मो के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं करती है । इससे हमारी नैतिक चेतना का व्याघात नहीं होता है । इस सिद्धान्त के अनुसार हम अपने अज्ञान के कारण ही अनैतिक कार्य करते है और यदि हम चाहे तो सुनियोजित प्रयत्न करके उसका अन्त भी कर सकते है । दूसरे, इस व्याख्या मे निराशावादी दृष्टिकोण नहीं है क्योंकि इसके अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि कोई भी साधक उचित प्रयत्न करके अशुभों से सदा के लिए आत्यन्तिक निवृत्ति पा सकता है । तीसरे, यह व्याख्या ससार की प्रकृति के प्रति भी अन्याय नहीं करती है क्योंकि यह न अति आशावादी है और न अति निराशावादी । शकर न तो पृथ्वी

पर केवल शुभ का स्वर्ग ही मानते है और न केवल अशुभ का घर बताकर इसकी निन्दा करते हे । चौथे, इसमे न तो किसी विरोधी तत्व से अशुभ की व्याख्या करने की गलती की गई है और न उसकी उत्पत्ति किसी शुभ-अशुभ लक्षणों से विरत तटस्थ वस्तु से बताई गई है । अविधा को सभी अशुभों का मूलकारण मानकर शकर ने अशुभ का कारण ऐसी वस्तु को माना है जो स्वय अशुभ है और अन्य अशुभों को उत्पन्न करने की क्षमता भी रखती है ।

सक्षेप मे, शकर के अशुभ सम्बन्धी विचारों की विशेषताओं पर भी चर्चा कर लेना अप्रासगिक न होगा । प्रथमत , शकराचार्य का यह विचार मानवमात्र को आशा और प्रोत्साहन देने वाला है । अपनी ही अविद्या को सभी अशुभों का कारण मानने से सभी मनुष्यों को इस बात का अवसर रहता है कि वे सुनियोजित प्रयत्नों के द्वारा अपने को अशुभ से सदा के लिए मुक्त कर लें । द्वितीयत , मानवमात्र के नैतिक और बौद्धिक प्रयत्नों का मूल्य स्वीकार करके उनके जीवन पर स्पृहणीय प्रभाव डाला है । इस सिद्धान्त को मानने वाले निश्चय ही सामान्य लोगों से अधिक अनुशासित और उच्च मूल्यों की स्पृहा रखने वाले होंगे ।

तीसरे, यह मत अशुभ के बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा उसके वास्तविक निराकरण पर अधिक बल देता है । मानववादियों ने भी इसी बात का प्रयत्न किया है, किन्तु उन्होंने यह मानकर गलती की है कि यह ससार सभी अशुभों से मुक्त हो सकता है । शकर इस ससार को अशुभों से मुक्त कभी सभव नहीं मानते है । उनका मुख्य लक्ष्य व्यक्तियों को अशुभ से मुक्त होने का मार्ग दिखाना

है । अत हम समझते है कि मानववादियों की अपेक्षा शकर का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक है । ससार की प्रकृति बदलने की अपेक्षा मनुष्य को अपना जीवन मोडना और परिवर्तित करना अधिक सरल है । कोई भी व्यक्ति दूसरों को सुखी बनाने मे किसी सीमा तक सहायता कर सकता है, किन्तु जैसा काण्ट मानता है, नैतिक पूर्णता या शुभ किसी के द्वारा दूसरों को नहीं दिया जा सकता है । यह तो स्वय अपने प्रयत्नों से अर्जित और प्राप्त करने की वस्तु है । इसके अतिरिक्त यदि सभी व्यक्ति सभी अशुभों से मुक्त हो जाते है तो विश्व के सम्बन्ध में उन्हे कोई चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है ।

जिस अशुभ का एक प्रारम्भ है, उसकी अपेक्षा अनादि अशुभ की अवधारणा अधिक उचित प्रतीत होती है । एक बार उत्पन्न हो सकने वाला अशुभ, यदि उसके सामने उसका विरोध करने वाला तत्व सदा उपस्थित नहीं बना रहता, तो पुन उत्पन्न हो सकता है । किन्तु अशुभ को रोकने या विरोध करने वाला तत्व ससार मे न कहीं दिखाई देता है और न भविष्य मे उसके उत्पन्न होने की कोई सम्भावना दिखाई देती है । यदि यह मान भी लिया जाय कि बहुत दिनों बाद भविष्य मे अशुभ विरोधी तत्व उत्पन्न हो जाएगे तो भी उनके स्थायी होने की कोई आशा नहीं है । जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका विनाश भी हो सकता है । किन्तु अनादि वस्तु पर यह नियम लागू नहीं होता है । अनादि कहने का अर्थ है कि उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई । अविद्या को अनादि कहने मे यह भाव निहित है कि उसका कभी प्रारम्भ नहीं हुआ है । इसलिए यदि

किसी व्यक्ति के समस्त अशुभों के कारण उसकी अविद्या एक बार दूर हो जाती है तो दुबारा उसके उत्पन्न होने की सभावना नहीं रहती है । जहाँ तक उसके पूर्ण विनाश का प्रश्न है उसमे कोई व्याघात उत्पन्न होने की सभावना नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश के द्वारा अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सभी लोग जानते है कि ज्ञान से अज्ञान मिट जाता है । अविद्या का अस्तित्व चाहे जितना पुराना हो, किन्तु ज्ञान के सामने वह एक क्षण नहीं ठहर सकती है । जिस क्षण अविद्या का अन्त होता है उसी क्षण यह सदा के लिए समाप्त हो जाती है ।

शकर के मतानुसार जिस प्रकार अविद्या अव्याख्मेय है, उसी प्रकार अशुभ की भी व्याख्या सभव नहीं है अर्थात् अशुभ को भी अनादि मानना पडेगा क्योंकि उसकी कोई उत्पत्ति नहीं दिखायी जा सकती । अशुभ की उत्पत्ति का कारण ईश्वर को नहीं दिखाया जा सकता क्योंकि ऐसा होने पर उसका ईश्वरत्व ही नष्ट हो जाएगा । हम यह भी नहीं कह सकते कि अशुभ की उत्पत्ति जीवों मे स्वभावत होती है । कोई भी व्यक्ति, जब तक वह अविद्या के अन्धकार से नहीं घिरा है, अपने रास्ते मे स्वय काटे नहीं बनायेगा । सभी व्यक्तियों के विषय मे यह कहा भी नहीं जा सकता कि वे दुर्गुणी प्रकृति के है । जहाँ तक मानव-प्राणी का प्रश्न है, उनके बारे मे यह मानना अधिक उचित होगा कि वे तात्विक रूप से बुरे होने की अपेक्षा भले ही है ।

किन्तु, फिर प्रश्न यथावत् रह जाता है कि आखिर जगत् मे दिखाई पडने वाले इन अशुभों का कारण क्या है ? क्या यह कहा जा सकता है कि कुछ

अदृश्य अतिमानवी अशुभ प्राणी हमारे मन मे अशुभ विचार और अनैतिक इच्छाए उत्पन्न किया करते है और वे ही भूचाल तथा महामारी जैसे अशुभों की रचना भी करते रहते है । अथवा क्या हम यह मान लें कि इसके लिए प्रकृति ही उत्तरदायी है । प्रथम मान्यता तो शैतान जैसी मान्यता प्रतीत होती है और दूसरी पुद्गल की तरह की है । यदि इन दोनों मतों को सही मान लिया जाय तो उनके साथ अशुभ को भी अनादि मानना पडेगा, अथवा उनमे वास करने वाले अशुभ का कारण और आगे कहीं अन्यत्र ढूढना होगा । इस प्रयत्न मे हम या तो अनवस्था दोष मे पड जायगे या अशुभ को अनादि स्वीकार करना होगा । इस प्रकार किसी न किसी रूप मे अनादि अशुभ को स्वीकार किये बिना कोई अन्य उपाय नहीं रह जाता है । अत सभी अशुभों का मूलकारण अविद्या को अनादि मानकर शकर ने तर्कसगत निर्णय ही लिया है ।

इसके अतिरिक्त, अविद्या के अनादि मानने की बात हमारे वास्तविक अनुभव के अनुकूल ही प्रतीत होती है । अपने दैनिक जीवन मे हम सभी यह कहते है कि ' हम यह नहीं जानते ' किन्तु यह कोई नहीं कहता कि ' हम इसे अमुक समय से नहीं जानते ।' यदि हम अपने साधारण अज्ञान का कोई निश्चित प्रारम्भ नहीं बता सकते तो उस अविद्या का आदि कैसे जान सकते है जो स्वय हमारी ससीमता का ही कारण है । वास्तव मे यह प्रश्न कि ' अशुभ का अस्तित्व क्यों है ' वैसा ही है जैसे यह पूँछना कि ' अपूर्णता क्यों है ?' हमे यही मान लेना चाहिए कि यह सब कुछ जैसा है, इसके विपरीत नहीं हो सकता था । यह

सृष्टि अपूर्ण ही रहनी चाहिए । यह पूछना व्यर्थ है कि "हम यहाँ क्यों है ?"[1] हम है, हमारी अविद्या है । यह कहना सभव नहीं है कि यह कब प्रारम्भ हुई। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह अविद्या अनादि है ।

जीवन का परमशुभ प्राप्त करने और सभी अशुभों से मुक्ति पाने के लिए नैतिक प्रयत्नों की आवश्यकता है क्योंकि आचार्य शकर के विचार मानव जीवन के नैतिक या मूल्य पक्ष के विरोधी नहीं है ।

ब्रह्म या हमारी वास्तविक आत्मा शुभ और अशुभ दोनों से परे हो सकते है लेकिन जब तक हम अपने को ससीम समझकर अपने ही अनादि अज्ञान के अन्धकार मे भटक रहे है, उससे क्या होता है ? जब तक ससीमता की भावना मनुष्य के मन मे जमी हुई है तब तक शुभ और अशुभ दोनों है और रहेगे । यदि कोइ अशुभ की समस्या का सामना व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार से दृढतापूर्वक करने को उद्यत होता है तो उसे जीवन के हर पहलू मे अशुभ को त्याग कर शुभ ग्रहण करना पडेगा । शकर के अनुसार सत्यनिष्ठा के साथ शुभ आचरण करते हुए कोई व्यक्ति अपने वास्तविक असीम स्वरूप को जानने का अधिकारी हो सकता है ।[2] शकर ने शुभ और अशुभ के बीच उसी प्रकार

---

1 रवीन्द्र नाथ टैगोर, साधना पृ0 - 47

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । ।

भेद किया है, जिस प्रकार का भेद मूल्यात्मक एव तथ्यात्मक, निर्णयों मे होता है । उनके ससीम और असीम तत्वमीमासीय भेद के साथ शुभ और अशुभ के नैतिक भेद की कोई असगति नहीं है । शकर तो तत्वमीमासीय भेद के हित मे नैतिक भेद पर बल देना आवश्यक समझते है । तत्वमीमासीय सत्य की प्राप्ति के लिए शुभ और अशुभ मे भेद करना आवश्यक है । इनको अस्वीकार करने से ससीम और असीम के दृष्टिकोणों के भेद मे गडबडी पैदा हो जाएगी । जब तक ससीम और असीम का भेद हमारे मन मे है तब तक विधि और निषेध के मूल्यों का भेद भुलाया नहीं जा सकता है । अत शकर के अशुभ सम्बन्धी विचारों के विषय मे डॉ0 सेनाफ का यह कथन सही नहीं प्रतीत होता कि - "ससीम प्राणी की अपूर्णता या सीमा बन्धन के रूप मे अशुभ का वर्णन करना, शुभ-अशुभ के प्रतिपक्ष का ससीम - असीम मे परिणमन करना और नैतिक के स्थान पर तत्वमीमासीय भेद करना, समस्या के नैतिक या मूल्यात्मक पक्षों का हनन कर देना ही है ।[1]

नीतिशास्त्र एव तत्वमीमासा का आपस मे इतना घनिष्ठ सबध है कि दोनों का एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है । यह एक ऐसा तथ्य है कि जिसे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । यहाँ केवल इतना कहा जा सकता है कि तत्वमीमासा को हमारी नैतिक चेतना के निर्णयों को मानकर चलना होता है और तत्वमीमासा के विश्वासों का प्रभाव आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों पर अवश्य

---

1 दि नेचर ऑफ ईविल, पृ0 - 370

पडता है ।[1] तत्वमीमासक को केवल भौतिक घटनाओं तथा इस प्रकार की दूसरी समस्याओं की व्याख्या ही नही करनी रहती है, वरन् उसे नैतिक समस्या की भी तत्वमीमासीय व्याख्या करनी पडती है । अत अशुभ की समस्या मूलरूप से नैतिक समस्या होते हुए भी यदि हमे तत्वमीमासीय चिन्तन की ओर ले जाती है तो कोई आपत्ति की बात नहीं है । शकर द्वारा किया गया तत्वमीमासीय भेद नैतिक शुभ एव अशुभ के भेद को नहीं मिटाता है । यदि कोई यह मानता है कि शकर की तत्वमीमासा मे शुभ तथा अशुभ का भेद मिट जाता है तो इसका अर्थ है कि वह शकर के सापेक्ष और निरपेक्ष दो दृष्टिकोणों का भेद नहीं समझ सका है। व्यावहारिक दृष्टि मे शकर ने शुभ और अशुभ के भेद सहित और भी सब भेद स्वीकार किए है । नैतिकता के लिए यही अपेक्षित भी है ।

*****

---

1 रैशडल, थ्योरी ऑफ गुड एण्ड ईविल (द्वितीय खण्ड) पृ0 - 189-246

अध्याय - 7

शाकर धर्म-दर्शन का व्यावहारिक एव नैतिक पक्ष

अध्याय - 7

शाकर धर्म-दर्शन का व्यावहारिक एव नैतिक पक्ष

1 शाकर दर्शन वस्तुत जीवन-दर्शन है -

भारतीय सस्कृति के अन्तर्गत दर्शन सम्भवत जीवन से कभी अलग नहीं रहा है ।[1] भारतीय दर्शन का शायद ही कोई सम्प्रदाय हो जो जीवन के व्यावहारिक पक्ष मे रूचि न रखता हो । अन्य भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों की भाति ही आचार्य शकर के दर्शन मे भी न केवल मानव-जीवन के सवोच्च आदर्श पर ही विचार किया गया है, बल्कि उसको प्राप्त करने का मार्ग भी बताया गया है । जितनी ही सुदृढ भूमि पर उनके दार्शनिक विचार स्थापित है, उतना ही महत्व व्यावहारिक जीवन मे उन्हे अपनाने पर भी दिया गया है । यदि जीवन को इतना सकुचित मान लिया जाय कि अविचारपूर्ण इन्द्रिय सुखों को ही जीवन माना जाय अथवा प्रत्यक्षपरक स्तर तक ही जीवन-सीमा आबद्ध कर दी जाय और यदि इसके साथ ही निम्न स्तर के लोगों के दृष्टिकोण का समर्थन करना ही जीवन का उद्देश्य हो तो शकर का दृष्टिकोण जीवन-दर्शन कहलाने का अधिकारी कदापि नहीं होगा, किन्तु जब तक मानव-प्रकृति जैसी है, वैसी ही रहती है और जब तक मनुष्य सुख और शुभ तथा क्षणिक एव शाश्वत मे अन्तर समझता रहेगा तब तक यह दर्शन निश्चय ही सर्वोत्तम जीवन-दर्शनों मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा। मानव - जीवन का परमशुभ प्राप्त करने के लिए इसमे जिस नैतिक और आध्यात्मिक

---

1 दि नेचर ऑफ सेल्फ, पृ0 - 4

सयम को महत्व दिया गया है, वह भी अपना महत्वपूर्ण स्थान अक्षुण्ण रखेगा।

शकराचार्य के दर्शन की व्यावहारिकता यद्यपि सभी व्यक्तियों के अनुकूल या उपयोगी हो ही, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि चार्वाक़ या लोकायत दर्शन भी सभी व्यक्तियों के आकाक्षाओं के अनुकूल नहीं है । किन्तु यदि कोई यह कहे कि शकराचार्य का दर्शन सामान्य मनुष्य के स्तर तक, नीचे नहीं उतरता है तो हम यही कहेगे कि इससे उनके दर्शन के व्यावहारिक पक्ष का मूल्य घटता नहीं है । उच्च गणित या विज्ञान के तथ्य किसी रसोइये या चरवाहे को भले ही न समझ मे आवे, किन्तु इससे मानव जीवन मे उनकी उपयोगिता नष्ट नहीं होती है । शकर का ब्रह्मवाद उन लोगों को भले ही पसद न आवे जो ससार के नानात्व एव सासारिक मूल्यों मे आस्था रखने वाले अपने छिछले विचारों का समर्थन किसी दर्शन से करना चाहते है, किन्तु जिन लोगों के मन और मस्तिष्क की भूमि इसके अनुकूल है, उन्हे यह दर्शन रूचिकर लगता है और इससे उन्हे अपूर्व शांति प्राप्त होती है । ऐसे लोगों की सख्या भले ही कम हो किन्तु उपेक्षणीय कदापि नहीं है ।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि शकर का दर्शन समाज मे क्रियात्मक जीवन के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि वह सन्यासी जीवन को अत्यधिक महत्व देता है । किन्तु स्वामी रामकृष्ण, रामतीर्थ, विवेकानन्द और स्वय शकर जैसे अनेक ब्रह्मवादियों के उदाहरण दिये जा सकते है, जो स्वय समाज मे रहे है और निश्चय ही उनसे समाज को बहुत लाभ हुआ है । वास्तव मे जनता के सेवक कहलाने

वाले लोगों से ही समाज को लाभ नहीं प्राप्त होता, वरन् दार्शनिक, वैज्ञानिक एव कवियों द्वारा भी समाज को लाभ प्राप्त होता है । वे अपने साधारण सुखों को भी भुलाकर अपने कार्यक्षेत्र मे पूर्णत निमग्न रहते है और मानव-जाति का हित करत है । उन्हे यह ससार जैसा है, उससे बिल्कुल भिन्न दिखाई देता है । शकर जैसे मानवीय दृष्टिकोण रखने वाले अध्यात्मवादी दार्शनिक का मानव समाज क कल्याण के लिए महत्वपूर्ण योगदान है । जिस वेदान्त (हिन्दू) धर्म की प्रतिष्ठा उन्होंने की आज भी समाज उसी का अनुगामी बना हुआ है । हाँ, जहाँ तक ससार स प्राप्त होने वाले इन्द्रियानुभव जन्म सुखों का प्रश्न है, उनसे इन दार्शनिकों, वैज्ञानिकों तथा कलाकारों आदि को अनासक्त रहना ही पडेगा, तभी वे अपने क्षेत्र मे कुछ अच्छी उपलब्धि प्राप्त कर सकेगे । इस त्याग-भाव के कारण सामाजिक मूल्य के कार्य करने मे न कोई बाधा है और न कोई हानि ।

शाकर - दर्शन वस्तुत जीवन-दर्शन है, वह केवल मानसिक परिकल्पना नहीं है । वह पूर्ण सावधानी से जीवन मे उतारने योग्य है । उनका दर्शन या विचार केवल पाठ करने अथवा स्मृति मे धारण करने के बजाय व्यवहार मे लाने के लिए है । शास्त्रों का ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए एक आवश्यक चरण हो सकता है, किन्तु वह स्वय साक्षात्कार के समान नहीं है । ब्रह्म-साक्षात्कार के सच्चे जिज्ञासु को उस साक्षात्कार के उपयुक्त अपना जीवन भी बनाना होगा। स्वार्थ - परता, विचारों की सकीर्णता और राग-द्वेष पूर्णत समाप्त हो जाने चाहिए। वह ससार मे रहते हुए भी ससार का होकर न रहे । वह समाज के लिए प्रसन्नतापूर्वक

कार्य कर किन्तु उसके बन्धन मे न पडे । मानव का जीवन एक ऐसे खिलाडी की तरह है जो केवल खेल के लिए ही खेलता है, उसका कोई अन्यथा उद्देश्य नहीं होता है ।[1]

आचार्य शकर के दर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता न स्वीकार करना, एक बहुत बडी मिथ्या-धारणा है । सर्वप्रथम तो हम यह कहेगे कि ऐसा मानने वाले लोग शकर के दर्शन पर सम्यक् रूप से विचार नहीं करते है । वे उसकी प्रक्रिया और परिणाम को एक साथ मिलाकर गडबड कर देते है । जहाँ तक इसकी साधना प्रक्रिया का प्रश्न है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसमे सासारिक मान्यताओं एव विचारों को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ।[2] दूसरे, शकर के दर्शन को ' मायावाद ' का भ्रामक नाम दे दिए जाने के कारण यह विचार प्रचलित हो गया कि शकर ससार को एक भ्रान्ति समझते है । अत यदि हम ससार को पूर्णत भ्रामक प्रतीति न मानें तो यह आरोप दूर हो जाता है ।[3] हमे एक ओर ब्रह्म साक्षात्कार की साधना प्रक्रिया मे और दूसरी ओर ब्रह्म साक्षात्कार की सिद्धावस्था मे भी भेद समझना चाहिए । शकर के मतानुसार ब्रह्म साक्षात्कार केवल मानसिक परिकल्पना नहीं है । वह ब्रह्म का सर्वाधिक निश्चित और अव्यवहित ज्ञान है ।

---

1 शाकर भाष्य गीता, 2 38 (लाभालाभौ जयाजयौ समौकृत्वा)

2 शाकर भाष्य गीता, 2, 34-35-36

3 इण्डियन फिलासफी, राधाकृष्णन खण्ड - 2, पृष्ठ - 621

2 जीवन के लिए नैतिक आदर्श की आवश्यकता -

जीवन सदैव गतिशील होता है । हमारे विचार से मानव-जीवन के लिए विशेषकर उसके नैतिक जीवन के लिए यह और भी सत् है, क्योंकि नैतिकता मे जो लक्ष्य अभी प्राप्त नहीं हुआ, वरन् प्राप्तव्य है, उसके लिए सदा क्रियाशील रहना पडता है । कहा जाता है कि- "सदाचार, शिकार मे नहीं वरन् उसके पीछे लग रहने जैसा होता है" । किन्तु यदि पीछा करने के लिए कोई शिकार न हो तो पीछा कैसे किया जायगा ? अत नैतिक जीवन मे यह निहित है कि कुछ प्राप्त करने के लिए लगा रहे, उसके लिए सक्रिय रहे और साथ ही प्राप्त करने का कुछ लक्ष्य भी हो । इसकी तुलना एक ऐसे यात्रा से की जा सकती है, जो एक पूर्व निश्चित गन्तव्य की ओर प्रारम्भ की गई है । यदि किसी व्यक्ति का कोई गन्तव्य स्थान नहीं है तो उसका जीवन मारे-मारे फिरने जैसा होगा या वह जीवन ही न होगा । आगे न बढनें का अर्थ खडे रहना या पीछे की ओर हटना है तथा बिना जाने चल देना अन्धकार मे भटकना है ।

वस्तुत मनुष्य का ' विकास हो रहा है ' यह तभी कहा जा सकता है जब वह किसी महत्वपूर्ण लक्ष्य को सचेत होकर प्राप्त करे । जीवन का आदर्श प्राप्त करने मे ही नवीनता, ताजगी तथा सुरूचि की अनुभूति है । इसे कौन अस्वीकार करेगा कि एक आदर्श सामने रहने पर अधिकाधिक प्रयत्न करने का उत्साह बना रहता है । एक आदर्श के पीछे लगने से मानव प्रकृति की एक महत्वपूर्ण माग निश्चय ही पूरी होती है । शायद ही ऐसा कोई आदमी हो जो जैसा कुछ है

उसस पूणत सन्तुष्ट हो । मनुष्य स्वभावत अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट और जा कुछ उसे प्राप्त नही है, उसे पाने के लिए उत्सुक रहता है । फिर भी हर मनुष्य के सामने अपने जीवन का सर्वोच्च आदर्श स्पष्ट रूप से विद्यमान नही रहता है । कोई आदशे न रहने से अधिक इस बात की सम्भावना रहती है कि उसके मन म ऐसे बहुत से आदर्श हों जो अस्पष्ट और सकीर्ण हों । वे कभी-कभी एक दूसरे के विरोधी और निरर्थक भी हो सकते है । परिणाम यह होता है कि एस लोगों के जीवन मे बडा दुखद असामञ्जस्य रहता है । अत मानव जीवन क सर्वोच्च आदशे या मूल्य का अध्ययन उतना ही आवश्यक है और शायद उससे भी अधिक, जितना किसी और विषय का अध्ययन । इस युग के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर सी0वी0 रमन के शब्दों मे- "सच्चे ज्ञान की नींव मानव-मूल्यों को खोज करने की मनुष्य की क्षमता मे निहित है ।" जो विज्ञान मानव-मूल्यों या आदर्शों का अध्ययन करता है उसे नीतिशास्त्र या आचार शास्त्र कहा जाता है और वह तत्वमीमासा या सत्तामीमासा से भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है । किन्तु अन्य भारतीय चिन्तकों की तरह शकर ने कभी तत्वमीमासा या दर्शन से उसे काटकर अलग करने का प्रयत्न नहीं किया । इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनका दर्शन मानव-जीवन से बहुत अधिक आबद्ध है । वे मानव-मूल्यों या उसके आदर्शों को दर्शन का अभिन्न अग मानते है ।

3 मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य शकर के मत मे -

आचार्य शकर के अनुसार अपने वास्तविक स्वरूप या ब्रह्म का साक्षात्कार

कर लेना ही हमारे जीवन का सर्वोच्च आदर्श होना चाहिए । उनके विचार से ब्रह्म पूर्ण सत् ही नहीं वरन् पूर्ण आनन्द भी है । शकर का दृढ मत है कि मनुष्य का परम पुरूषार्थ ब्रह्म या अपने सर्वोच्च स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करना ही है, अन्य कुछ नहीं ।[1] ब्रह्म की प्राप्ति से बडा कोई लाभ नहीं है और उसके सुख से बडा कोई सुख तथा उसके ज्ञान से उच्च कोई ज्ञान नही है ।[2] ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य मात्र का सर्वोच्च आदर्श है ।[3] यही हमारा सर्वोच्च लक्ष्य या अन्तिम गन्तव्य है क्योंकि कूटस्थ और अविनाशी होने के कारण वह पूर्णत ज्ञान-स्वरूप और मुक्ति-स्वरूप है । यद्यपि ब्रह्म मे पाप-पुण्य, शुभ - अशुभ आदि का काइ भेद नहीं है, किन्तु हम मनुष्यों के लिए वही परम शुभ है, परम आनन्द है, सर्वोच्च ज्ञान है और पूर्ण सत् है, उस एक मे ही सब प्रकार की पूर्णताए निहित है । वह सभी दोषों से मुक्त तथा सभी विक्षेपों से परे है ।[4] उसका ज्ञान परम सत् का ज्ञान ही नहीं है, बल्कि मानव-जीवन के परम पुरूषार्थ का ज्ञान भी है ।[5] अत ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार सभी मनुष्यों का सर्वोच्च लक्ष्य है क्योंकि सभी जीवधारियों मे मनुष्य ही इसके उपयुक्त है । जो व्यक्ति अपने

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । 28

2 आत्म-बोध, 54

3 शाकर भाष्य तैत्तिरीय, 2 ।, शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । । (ब्रह्मावगतिर्हि-पुरूषार्थ)

4 शाकर भाष्य गीता - 2 5।

5 शाकर भाष्य तैत्तिरीय 2 ।

सत् आत्म-स्वरूप का जान लेता है, उसका जीवन सार्थक है और जो इसमे असफल रहता है उसका निरथक ।[1] आत्म-ज्ञान प्राप्त करने से उत्तम और कोई सफलता नहीं है । सभी वेदवाक्यों तथा शास्त्र-उपदेशों मे इसी को चरम लक्ष्य बताया गया है ।[2] ब्रह्म-ज्ञानी भी आत्म-साक्षात्कार को परम लाभ बताते है क्योंकि वह शाश्वत है, अविनाशी है । अत मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार ही है, वह सभी मूल्यों की कसौटी है । हमारे सभी कार्यो का मूल्याकन इसी मापदण्ड स होगा । जो कार्य इसमे सहायक है, उन्हे शुभ कार्य कहा जाएगा और जो इसमे बाधक है, उन्हे अशुभ या बुरा कार्य कहा जायगा । नैतिक शुभ वही है जो अनन्त के साक्षात्कार मे सहायक हो और नैतिक अशुभ वह है जो इसका विरोधी हो।[3] नि सन्देह नैतिकता के अन्तिम मापदण्ड के रूप मे 'आत्म-साक्षात्कार' इतना अधिक व्यापक मापदण्ड है कि हम अपने नित्यप्रति के कार्यों का नैतिक मूल्याकन उसके द्वारा आसानी से नहीं कर सकते है । आचार्य शकर ने नैतिकता का मूल्याकन करने के लिए अधिक सुलभ तथा स्थूल उपाय बताये है, जैसे- उनका शास्त्रानुकूल होना या महा पुरूषों द्वारा अनुमोदित होना ।[4] मनुस्मृति मे भी नैतिकता के ये ही मानदण्ड स्वीकार किए गये है ।

---

1 शाकर भाष्य केनोपनिषद् 2 5

2 उपदेशसहस्री, 17-4

3 डॉ0 राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, खण्ड - 2, पृ0 - 614

4 शाकर भाष्य गीता 3 21, 4 17, शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 3 2 25

आत्म-साक्षात्कार को मानव-जीवन का चरमलक्ष्य स्वीकार करने का शकर का यह मन्तव्य कदापि नहीं है कि वे इस ससार के अन्य मूल्यों की उपक्षा करते है । वास्तव मे उन्होंने अपने गीता भाष्य मे स्वीकार किया है कि मनुष्य ससार मे और भी बहुत सी बातें सोचता है और उनमे से कुछ इस लोक और परलोक मे सुखी जीवन के लिए उपयोगी है । भारतीय विद्वानों, विशेषकर ' वेदान्त परिभाषा ' के अनुसार सामान्य रूप मे धर्म (अपने कर्त्तव्यों का पालन), अर्थ (सम्पत्ति) काम, (सुखोपभोग) तथा मोक्ष (बन्धन से छुटकारा) ही परम पुरूषार्थ है । आचार्य शकर भी इस मत का विरोध नहीं करते । नि सन्देह उन्होंने भी मोक्ष पर सर्वाधिक बल दिया है । उनके अनुसार ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-ज्ञान ही मोक्ष है । इस स्थिति मे न केवल समस्त सुख-दुखों से छुटकारा मिल जाता है वरन् सर्वोच्च सुख तथा आनन्द भी प्राप्त होता है । आचार्य शकर ने 'मोक्ष' से इतर मूल्यों को ' अभ्युदय ' नाम दिया है । इसका शाब्दिक अर्थ है उत्कर्ष या विकास, किन्तु उत्कर्ष का तात्पर्य केवल नैतिक उत्थान ही नही है जो मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार के परम उद्देश्य तक पहुँचाने के लिए आवश्यक है, बल्कि उसमे लौकिक सुख और सम्पन्नता भी सम्मिलित है, क्योंकि उन्हे पाकर भी लोग अपने को महिमान्वित समझते है । इसके अतिरिक्त धन या सासारिक सम्पन्नता को भी कभी-कभी भारतीय विद्वान धार्मिक कृत्यों के लिए आवश्यक मानते रहे है । उससे भी सुख प्राप्त होता है ।[1] कुछ भी हो शकर ने मोक्ष को अपवर्ग

---

1 धनात् धर्म तत सुखम् ।

ना नि श्रेयस् कहन के साथ भोग तथा अभ्युदय को भी पुरूषार्थ माना है ।[1]

आचार्य शकर के अनुसार भोग या अभ्युदय को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता है । ये निश्चय ही क्षणिक है । इस लोक क सुख और वैभव की तो बात ही क्या, स्वर्ग के सुख भी देर - सबेर समाप्त हो जात है ।[2] किन्तु जिन लोगों मे मानव-जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने की इच्छा किसी भी तरह उत्पन्न नहीं हुई है, उनके लिए नश्वर प्रकृति के ये मूल्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । इन्हे हेय तभी कहा गया है जब जीवन काशाश्वत तथा परम प्राप्तव्य प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो चुकी होती है । ससार के सुखों की इच्छा आत्म-साक्षात्कार मे बाधक सिद्ध होती है । उसके लिए प्रशात चित्त की आवश्यकता है । इच्छाओं के कारण जिनका मन अस्थिर एव चचल है, उन्हे शाति कैसे मिल सकती है ।[3] ऐसा विश्वास किया जाता है कि जिनका मन रूपी दर्पण आत्म-ज्ञान की इच्छा के अतिरिक्त अन्य लौकिक इच्छाओं की धूल से मलिन हो गया है, उसमे स्वय प्रकाश स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता ।

---

1 शाकर भाष्य तैत्तिरीय, 2 । (भोगापवर्गो पुरूषार्थौ) शाकर भाष्य गीता, 10 18 (अभ्युदय पुरूषार्थौ)

2 शाकर भाष्य छान्दोग्य, 8 । 6 (एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक क्षीयते)

3 भगवद्गीता 2 44 और उस पर शाकर भाष्य ।

कठोपनिषद् मे भी स्वीकार किया गया है कि सासारिक मूल्य नश्वर है (श्वाभाव) । अतएव शकर ने अनन्त आनन्द, अनन्त सत् तथा अनन्त ज्ञान को ही परम शुभ और मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार किया है । उसे प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं को तृप्त समझता है । जिस प्रकार घी डालकर आग बुझाने से आग और भी प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार विषयों के द्वारा कामनाओं को तृप्त करने से वे अधिकाधिक बढती है ।[1] यद्यपि ब्रह्म के लिए न कुछ त्यागने योग्य है, न ग्रहण करने योग्य[2] और न कोई गुण है न दोष, किन्तु हमारे जैसे ससीम लोगों के लिए इससे बडा कोई लाभ नहीं है, इसके समान कोई सुख नहीं है और न इससे ऊँचा कोई ज्ञान है । यह समस्त सत्य, शिव और सुन्दरम् का समुच्चय है । इसमे कोई सन्देह नहीं कि शकर ने मनुष्य के वास्तविक स्वरूप और ब्रह्म मे तादात्म्य माना है, किन्तु साथ ही यह भी समान रूप से सत्य है कि उन्होंने यह स्वीकार करने मे सकोच नहीं किया है कि यह तादात्म्य किसी प्रकार उससे छिप गया है । अत शकर ने मानव-जीवन के सर्वोच्च आदर्श के समतुल्य ही इस आवरण को हटाने के साधनों को भी महत्व प्रदान कर उचित कार्य ही किया है । छत पर चढने के बाद कोई भले ही सीढी को पैर मारकर गिरा दे, किन्तु सीढी पर चढते समय कोई सामान्य मनुष्य उसे ठेलने का प्रयत्न न करेगा । गन्तव्य स्थान और रास्ते की

---

1 भगवद्गीता 3 39 और उसपर शाकर भाष्य

2 प्रौढानुभूति, 10

यात्रा एक ही समान नहीं है । यदि कोई गन्तव्य तक पहुँचना चाहता है तो उसे आवश्यक रूप से रास्ते की यात्रा पूरी करनी पडेगी ।

4 आत्म-साक्षात्कार के साधन -

आचार्य शकर के अनुसार ज्ञान ही मोक्ष का सीधा साधन है ।[1] ज्ञान का अर्थ ब्रह्मत्व या आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करना है । वे कहते है कि ब्रह्म का ज्ञान ही ऐसा साधन है, जिसमे अमृतत्व प्राप्त हो सकता है ।[2] उनके मतानुसार ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होने का तथ्य सभी शास्त्रों का सार है तथा तर्क से भी यही सिद्ध होता है ।[3] वस्तुत शकर की प्राय सभी रचनाओं मे ऐसे पद या वाक्य मिलते है जिनमे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान अथवा इन दोनों का एकत्व दर्शन मानव-जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने का एकमात्र सीधा साधन है ।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान शाकर मत मे केवल मौखिक ज्ञान नहीं है । इस एकत्व का अव्यवहित अनुभव ही वास्तविक ज्ञान है । शकर ने इन दोनों प्रकार के ज्ञान का भेद स्पष्ट रूप से समझा है । अतएव वे कहते है कि ज्ञानियों मे से भी केवल थोडे लोग ही

---

1 शाकर भाष्य गीता, 6 36 (मोक्ष साधन सम्यक् दर्शनम्), 4 33 (ज्ञाने मोक्ष साधने)

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 1 3 39 (ब्रह्मज्ञानात् हि अमृतत्व प्राप्ति)

3 शाकर भाष्य गीता, 4 39

यथावत् तत्व-दर्शन प्राप्त कर पाते है, अन्य नहीं ।[1] कोई व्यक्ति ब्रह्म पर बडी कुशलता पूर्वक व्याख्यान भले ही दे ले फिर भी उसमे ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की अन्तर्दृष्टि का अभाव हो सकता है और इसके परिणाम स्वरूप वह सब प्रकार की आसक्तियों मे फसा हो सकता है । इस प्रकार का ज्ञान से कोई लाभ नहीं है । शकर के शब्दों मे वह नितान्त मूर्ख है और उसे बार-बार जन्म लेना पडेगा।[2] अत वास्तव मे ब्रह्म या परमतत्व के अव्यवहित और सशय रहित दर्शन की आवश्यकता है । मौखिक ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं है । वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब हृदय और बुद्धि के सभी दोष पूरी तरह से साफ हो जायें । इसलिए अपने वास्तविक स्वरूप के सच्चे एव अव्यवहित ज्ञान के लिए हमे दृढता से नैतिक एव आध्यात्मिक सयम करना पडेगा और लक्ष्य के अनुरूप सत्य निष्ठा के साथ निरन्तर साधना करनी पडेगी । ज्ञान प्राप्ति के लिए इस प्रकार के जिस अभ्यास और साधना की आवश्यकता है, उसे इसका साधन कहते है । ये साधन मोक्ष या आत्म-साक्षात्कार के गौण साधन कहलाते है ।

शकर के मतानुसार ज्ञान के इन साधनों की यह विशेषता है कि इनके द्वारा ज्ञान निश्चय ही प्राप्त होता है ।[3] इन साधनों को दो भागों मे बाट सकते है, अन्तरग साधनों का सम्बन्ध ज्ञान के निकटस्थ है । बहिरग साधनों का

---

1 शाकर भाष्य गीता, 4 34

2 अपरोक्षानुभूति, 133

3 शाकर भाष्य गीता, 4 38

सम्बन्ध जिज्ञासा से है, सीधे ज्ञान से नहीं ।[1] कर्मयोग, जिसमे त्यागपूर्वक कर्म किया जाता है और परिणाम की इच्छा नहीं की जाती है, बहिरग साधन का एक उदाहरण है ।[2] अन्त करण निर्मल होने पर उसमे आत्म-ज्ञान प्रकाशित होने लगता है । ज्ञान प्राप्ति की सफलता मन की शुद्धता पर आश्रित है और मन की शुद्धता फलेच्छा रहित कर्मो के करने पर निर्भर है ।[3] इस प्रकार कर्म ज्ञान प्राप्ति मे परोक्ष रूप से सहायक होते है । अत कर्मो को ज्ञान की प्राप्ति का बहिरग साधन कहा गया है । उन्हे अन्तरग या निकटस्थ साधन नही माना गया है ।

आचार्य शकर ने ज्ञान प्राप्ति के चार अन्तरग साधनों की चर्चा की है- (1) नित्यानित्य वस्तु विवेक, (2) इहामुत्रार्थ भोग-विराग, (3) शमदमादि साधनसम्पत् और (4) मुमुक्षत्व । नित्य और अनित्य वस्तुओं का ज्ञान होना विवेक कहा जाता है । इसके द्वारा हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि ' मै स्वरूपत नित्य हूँ ' और मेरे ज्ञान के विषय इसके विपरीत अनित्य है ।[4] दृष्ट तथा अदृष्ट भोग पदार्थों मे अनिच्छा होना वैराग्य है । विषयों मे दोष-दर्शन से यह वैराग्य उत्पन्न होता है ।[5] लोक या परलोक मे कर्मों के फल की अनिच्छा या त्याग

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 3 4 27

2 शाकर भाष्य गीता 6 2

3 शाकर भाष्य गीता 2 48

4 अपरोक्षानुभूति, 5

5 शाकर भाष्य गीता, 6 35

ही वैराग्य है । वैराग्य का मुख्य तात्पर्य क्षणिक सुख देने वाली सभी ससीम वस्तुओं के प्रति घृणा भाव है । मन जब तक ससार की विभिन्न वस्तुओं से परागमुख नहीं होता, इस पर पूर्णरूप से एकाग्र नहीं हो सकता ।

ज्ञान के तीसरे साधन के अन्तर्गत वस्तुत छ साधन है- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि और श्रद्धा । शम का तात्पर्य अन्त करण का उपशमन करना है ।[1] विषयों की तृष्णा के त्याग का निरन्तर प्रत्यत्न करना शम है ।[2] जब तक अन्त करण चचल रहता है, कोई व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान सकता है । विषयों का मानसिक चिन्तन सभी दोषों का जड है। किन्तु मन के द्वारा विषयों का चिन्तन या विभिन्न विषयों की इच्छाए रोकने के लिए इन्द्रियों का सयम भी आवश्यक है । वाह्य इन्द्रियों के इस सयम या इन्द्रियों के नियत्रण को दम कहते है ।[3]

अत ज्ञान के उपासक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग खींच ले । विषयों के साथ स्वच्छन्द विचरण करने वाली इन्द्रियाँ मन को अपने साथ खीच ले जाती है । इस प्रकार विषयाभिमुख पुरूष मे क्षोभ उत्पन्न हो जाता है । जब इन्द्रियाँ अपने विषयों से अलग हो जाती

---

1 शाकर भाष्य गीता, 104

2 अपरोक्षानुभूति, 6

3 अपरोक्षानुभूति, 6

है, तो इसे ' उपरति ' कहते है[1] और जो व्यक्ति विषयों से पूर्णत मुक्त हो जाता है, उसे उपरत पुरुष कहा जाता है ।

सभी कष्टों एव दुखों को धैर्य पूर्वक सह लेना ' तितिक्षा ' कहलाता है ।[2] यह सत्य है कि कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से दुख तथा पीडाओं को आमत्रित नहीं करता, फिर भी कोई व्यक्ति उनसे मुक्त नही है । यह ससार इतना जटिल है और शरीर की रचना इतनी विचित्र है कि हम चाहे जितना सतर्क रहे और चाहे जितना अच्छा औपचारिक प्रबन्ध होता रहे, हम स्वय को दुखों आदि से मुक्त नहीं समझ सकते । हम जैसे ससीम प्राणी प्रकृति के तत्वों को अपने नियन्त्रण मे नहीं रख सकते है । हमारे बस मे केवल इतना ही है कि हम उन्हे सहन करने का अभ्यास कर लें । शीत और ताप के लिए शिकायत करने या चीखने से कोई लाभ नहीं । जितना ही कोई चीख-पुकार करेगा, वेदना का अनुभव उतना ही तीव्र होगा । दुखों के प्रति उपेक्षा या तटस्थ भाव बढाने से ही मन की शाति सुरक्षित रह सकती है और तभी जीवन के लिए किसी स्पृहणीय लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफलता मिल सकती है । आत्म-साक्षात्कार के साधनों मे तितिक्षा का यही महत्व है ।

सत् या ब्रह्म पर मन को केन्द्रित करना समाधि या ' समाधान '

---

1 शाकर भाष्य गीता, 2 60

2 अपरोक्षानुभूति, 7

ै तथा गुरू एव शास्त्रों मे आदरभाव के साथ विश्वास करना श्रद्धा है ।[1] सदेह पर आश्रित रहने वाले देकार्त जैसे लोगों के दर्शन मे श्रद्धा का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है, किन्तु भारतीय चिन्तकों ने ज्ञान प्राप्त करने मे इसे एक आवश्यक शर्त माना है । प्रारम्भिक साधक के लिए इसका मूल्य स्वीकार करना उचित ही है । वस्तुत हमारे दैनिक जीवन मे ही श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान नही है वरन् शैक्षिक विषयों मे भी है । इससे सीखने मे समय और शक्ति की बचत होती है और ज्ञान की प्रगति मे सहायता मिलती है । साधन के रूप मे श्रद्धा का महत्व किसी भी दृष्टि से कम नहीं आकी जा सकती । शकर ने साधन के रूप मे ही श्रद्धा को मूल्यवान माना है । वे प्रारम्भिक श्रद्धा का समर्थन करते है, किन्तु अन्तिम श्रद्धा का नहीं । उनका प्रयोजन उस श्रद्धा से नहीं है, जो साधक को अपने म ही बाधे रखे । श्रद्धा वही है जो अन्त मे वास्तविक अनुभूति मे परिणत हो जाती है । इसका उद्देश्य साधक को केवल अपने चरमलक्ष्य तक द्रुतगति से आगे बढने के लिए विश्वस्त मार्गदर्शक प्राप्त करा देना है ।

मुमुक्षत्व आत्मज्ञान प्राप्त करने की एक और आवश्यक शर्त है । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन का कोई भी लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उसकी इच्छा पहले होनी चाहिए । यह भी स्मरणीय है कि सूक्ष्म एव कठिनता से प्राप्त होने वाले लक्ष्य के लिए अधूरे मन की अपेक्षा वास्तविक और दृढ सकल्प

---

1 अपरोक्षानुभूति, 8

का आवश्यकता होती है, तभी कोई लाभ होता है । नियमित अध्यवसाय एव तन्मयता भी सफलता मे सहायक होती है । अत शकर ने मुमुक्षता की परिभाषा करते हुए कहा है कि ससार, बधन से मुक्ति पाने की गहन और सुदृढ इच्छा ही मुमुक्षता है ।[1] चूँकि शकर के अनुसार मुक्ति और ब्रह्म-ज्ञान दोनों एक ही है अत मुक्ति चाहने वाले साधक को साधन-चतुष्टय का अभ्यास करके ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा करनी चाहिए ।[2] किन्तु इच्छा मात्र होना पर्याप्त नही है । ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा को इसके बताये गए साधनों से भली-भाति पूरा किया जाना चाहिए। बृहदारण्यकापनिषद् मे याज्ञवल्क्य ने इसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन का उल्लेख किया है । यही शकर को भी मान्य है ।[3] श्रवण का तात्पर्य किसी गुरु और शास्त्र से अपने वास्तविक स्वरूप या ब्रह्म के बारे मे जानना तथा समझना है । मनन का अर्थ है उसी पर तर्कबुद्धि के द्वारा विचार करना, और जब इस प्रकार पूर्वज्ञात और सुचिंतित तत्व पर ध्यान किया जाता है, तब उसे ' निदिध्यासन ' कहते है ।[4] शकर के अनुसार इस प्रक्रिया का बार-बार पुनरावर्तन तब तक करते रहना चाहिए जब तक आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान बिल्कुल स्पष्ट होकर मन सुदृढ न हो जाय ।

---

1 अपरोक्षानुभूति, 9

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र । । ।

3 वृहदारण्यक उपनिषद् 2 4 5 और उस पर शाकर भाष्य, शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 । ।4

4 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 । ।4, तत्वोपदेश, 76, 77, 82

आजकल मूल्यों का विभाजन कभी-कभी स्वार्थ, परार्थ तथा आदर्श, के आधार पर किया जाता है । स्वार्थ-मूल्य, कर्ता के अपने हित मे है । परार्थ-मूल्य, अन्य लोगों के लिए होते है और तीसरे प्रकार के मूल्य सत्य, शिव, सुन्दरम् जैसे किसी आदर्श की प्राप्ति मे निहित है । नि सन्देह ये भेद, निराधार तथा किसी सीमा तक भ्रामक भी है । डॉ0 सिन्हा ने स्वय अपनी ' एथिक्स ' नामक पुस्तक मे स्वीकार किया है कि- "व्यक्ति और समाज के हित मे कोई मुख्य भेद नहीं है । जो मूल्य वैयक्तिक शुभ के लिए उपयोगी है, वही सामाजिक शुभ के लिए भी है ।" इसी प्रकार स्वार्थवादी मूल्य भी वस्तुत आदर्शवादी मूल्यों से अलग नहीं किये जा सकते है । यदि केवल आदर्श, के लिए ही किसी आदर्श की उपासना की जाय, तो वह आदर्श, व्यक्ति का भी आदर्श, बन जाता है । अत उसका प्रभाव व्यक्ति - विशेष के गुणों और हितों पर भी पडता है । फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ मूल्य, मुख्य रूप से वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित होते है और दूसरों का सम्बन्ध उसके सामाजिक जीवन से होता है। प्रथम प्रकार के मूल्यों मे से दूसरों की अपेक्षा कुछ अपने सर्वोच्च आदर्श, की प्राप्ति से भी घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होते है । उदाहरणार्थ- प्लेटो के चार गुण- साहस, सदाचार, ज्ञान और न्याय मे से सदाचार मुख्य रूप से वैयक्तिक जीवन का गुण है तथा ज्ञान और साहस प्राय समान रूप से दोनों से सम्बन्धित है । कुछ भी हो, वैयक्तिक और सामाजिक शुभ का भेद तो नाम के लिए किया जा सकता है, किन्तु इनका पूर्ण विभाजन सभव नहीं है । जैसे व्यक्ति का शुभ, समाज के शुभ पर आश्रित है, वैसे ही समाज का शुभ, व्यक्ति के शुभ पर आश्रित है ।

वैयक्तिक सदस्यों के बिना समाज आकर्षण मात्र है । इसी प्रकार व्यक्ति के शुभ के बिना समाज का शुभ कोई अर्थ नही रखता । जो व्यक्ति अपने लिए अच्छा है वह पत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज के लिए भी अच्छा है । इसी प्रकार जिसका ह्रदय या मन कलुषित है, वह निश्चित रूप से समाज का एक बुरा सदस्य होगा। सद्गुण चाहे स्वार्थपरक हों या परार्थपरक, उन्हे हम ' सामाजिक ' कह सकते है । अत शकर द्वारा बताये गए आत्म-साक्षात्कार के साधन निश्चय ही मुख्य रूप मे वैयक्तिक जीवन से सम्बन्ध रखते है, किन्तु उनकी गणना सद्गुणों मे की जा सकती है । स्वार्थपरक होते हुए भी वे उनके धर्म-दर्शन के नैतिक पक्ष मे ग्रहण किए जाते है ।

आचार्य शकर भारत के अन्य परम्परागत दार्शनिकों की भाति साधारण और वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत आने वाले कर्मों को भी मूल्य प्रदान करते है । साधारण धर्मों का पालन करना मनुष्य मात्र का सामान्य कर्त्तव्य है । इन कर्त्तव्य कर्मों को सभी लोग वैयक्तिक क्षमता, सामाजिक स्थिति, जाति-पॉत या राष्ट्रीयता का भेदभाव किए बिना करते है ।[1] इस प्रकार के मुख्य सद्गुणों मे, सत्य, अस्तेय, अक्रोध, क्षमा, धैर्य, शौच, धी, विद्या, अहिसा ब्रह्मचर्य आदि है ।[2] वर्णाश्रम या विशेष

---

1 दि इथिक्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ0 - ।

2 मनुस्मृति 6 92 और 10 63

धम व्यक्ति क सामाजिक स्तर और स्थिति के अनुकूल होते है । ये साधारण और विशेष दानों प्रकार के धर्म मुख्य रूप से सामाजिक है ।

यह सत्य है कि शकर ने इन कर्त्तव्यों को आत्म-साक्षात्कार के प्रत्यक्ष साधनों मे सम्मिलित नहीं किया है । इसका अथ यह नहीं है कि शकर इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इनको आवश्यक नही समझते है, वरन् इसका कारण यह है कि इनका पालन करना तो सभी के लिए अनिवार्य है । कोई मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करे या न करे किन्तु उसे साधारण और विशेष धर्मों का पालन अवश्य करना होगा । इन कर्त्तव्यों का पालन भले मानव-जीवन के लिए स्वय आवश्यक है । शकर के अनुसार इनका उल्लघन करने वाला व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के परमानन्द की तो बात ही क्या इस लौकिक एव पारलौकिक नश्वर सुखों को भी न पा सकेगा । शकर कठोपनिषद् के इस विचार को स्वीकार करते है कि जिस व्यक्ति ने दुष्कर्मों का करना और उनके विषय मे विचार करना नहीं छोडा है और जिसका मन पूर्णत शुद्ध और शान्त नहीं हुआ है वह ज्ञान के द्वारा अपना वास्तविक स्वरूप नहीं पहचान सकता ।[1] आत्म-साक्षात्कार के लिए चित्त शुद्धि का उतना ही महत्व है, जितना ज्ञान का स्वय है । शकर के मतानुसार चित्त तभी शुद्ध हो सकता है, जब कर्त्तव्यों का पालन उन्हीं के लिए या भगवान के लिए किया जाय ।[2] अत वे अनासक्त भाव से कर्त्तव्यों का

---

1 कठोपनिषद् । 2 23 और उसपर शाकर भाष्य

2 शाकर भाष्य गीता 48 51, 9 27, 18 23

पालन आत्म-साक्षात्कार का साधन मानते है । किन्तु इस साधन से सीधे आत्म-ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता । शकर के कर्म-सिद्धान्त मे विश्वास से भी यही ज्ञात होता है कि वे हमारे कर्मों का नैतिक मूल्य उचित रूप से स्वीकार करत है ।

5 ज्ञान और कर्म -

शकर के मतानुसार ब्रह्म का प्रतिपादन करना सभी उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है और ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य का साक्षात् दर्शन बधन से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन है । कोई भी कर्म किसी प्रकार भी किया जाय किन्तु वह ज्ञान के सदृश नहीं हो सकता है । शकर के मतानुसार मोक्ष और ब्रह्मभाव एक ही बात है (ब्रह्मभावश्च मोक्ष) । यह मोक्ष नित्य है ।[1] इसे कोई नई रचना या नूतन उपलब्धि नहीं समझना चाहिए । अत मोक्ष किसी कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता । उसके लिए ब्रह्म या परम सत् का अव्यवहित ज्ञान अपेक्षित है । अनासक्त भाव से किए गये कर्म इस मार्ग को प्रशस्त कर सकते है किन्तु इनके द्वारा भी साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता है । कर्म का परिणाम तो केवल रचना, रूपान्तरण, परिवर्तन या किसी वस्तु की उपलब्धि रूप मे ही देखा जाता है[2], किन्तु मोक्ष इनमे से कुछ नहीं है । अत कर्मो को शकराचार्य, मोक्ष का सीधा साधन

---

1 शाकर भाष्य तैत्तिरीय । 2 (नित्यो हि मोक्ष)

2 शाकर भाष्य तैत्तिरीय, । 2

नहीं स्वीकार करते है ।[1] यही नहीं, शकर ने ज्ञान-कर्म-समुच्चय सिद्धान्त का घोर विरोध किया है । न्याय-वैशेषिक, रामानुज आदि ज्ञान और कर्म दोनों को मोक्ष का साधन मानते है । इन लोगों के मतानुसार शास्त्र-विहित कर्म, ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी करते रहना चाहिए । इससे व्यक्ति का अनासक्त तथा निर्विषय मे अभ्यास होता है और ज्ञान बढता है । इस प्रकार वैराग्य और वस्तुओं के दिखावटीपन का ज्ञान जिर्जीविषा को क्षणिक तृप्ति प्रदान करता है तथा न्याय वैशेषिक के मतानुसार इससे आत्मा की मुक्ति प्राप्त होती है । रामानुज के अनुसार, वैराग्य से दिव्य ज्ञान प्राप्त करने मे सहायता मिलती है, फिर श्रद्धा और प्रेम परिपुष्ट होने पर व्यक्ति का अह शान्त हो जाता है और भगवान की इच्छा मे व्यक्ति की इच्छा समाहित हो जाने पर मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।[2]

किन्तु शकर के अनुसार ज्ञान ही हमे बन्धन से मुक्त कर सकता है । इस कार्य को पूरा करने के लिए किसी सहायक या पूरक की आवश्यकता नहीं है । निष्काम कर्म करना या भगवान के समर्पण भाव से कर्म करना शकर के मतानुसार ज्ञान मे सहायक अवश्य है, क्यों कि इससे साधक का मन शुद्ध होता है और ब्रह्म के साथ तादात्म्य का ज्ञान प्राप्त होने के लिए भूमि तैयार होती है । किन्तु उनके द्वारा सीधे मोक्ष प्राप्त होना उन्हे मान्य नहीं है । शकर कहते है कि ज्ञान और कर्म का समुच्चय सम्भव नहीं है, क्योंकि एक तो उनके हेतु,

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, 4 । 13

2 दि इथिक्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ0 - 279

स्वरूप और फल मे विरोध है और दूसरे रज्जु के ज्ञान और अज्ञान की तरह उन दोनों का एक साथ रहना सम्भव नहीं है । कर्म का हेतु आसक्ति है और ज्ञान का हेतु अनासक्ति है, कर्म जड स्वरूप है और ज्ञान प्रकाश-स्वरूप है, कर्म का फल अभ्युदय है और ज्ञान का फल मोक्ष है । ज्ञान को कर्म या किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि इसका फल निश्चित है ।[1] जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश के कार्य मे सहायता नहीं कर सकता, उसी प्रकार कर्म भी ज्ञान के कार्य मे कोई सहायता नहीं कर सकता है । किसी का विरोधी कभी उसकी सहायता नहीं कर सकता ।[2] ज्ञान और कर्म मे विरोध इसी बात से प्रकट होता है कि कर्म मे कर्त्ता अनिवार्य रूप से अह भाव रखता है, जब कि ज्ञान अहभाव रहित की अवस्था मे होता है । पुनश्च, कर्म कर्ता पर आश्रित होता है, वह चाहे करे अथवा न करे किन्तु ज्ञान, ज्ञेय वस्तु पर आश्रित है । इस विषय मे ज्ञाता को स्वतत्रता नहीं है । यदि वस्तु सामने है और व्यक्ति के पास ज्ञान के आवश्यक साधन है, तो वह उस वस्तु को अवश्य जानेगा । अत शकर का मत है कि ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता है[3], क्योंकि इन दोनों का विरोध पर्वत की तरह अचल है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कर्मो का बिल्कुल तिरस्कार करते है । उनके अनुसार कर्मों का भी एक अलग अपना स्थान और मूल्य है ।

---

1 उपदेश सहस्री । 10

2 उपदेश सहस्री । 11

3 शाकर भाष्य गीता, 3 । (प्रस्तावना)

6 भक्ति और उपासना -

(क) भक्ति और भक्ति के लक्षण -

निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्ति योग कहते है । इस खोज का आरम्भ, मध्य और अन्त प्रेम मे होता है । ईश्वर के प्रति एक क्षण की भी पेमात्मत्तता हमारे लिए शाश्वत मुक्ति देने वाली होती है । भक्तिसूत्र म नारद जी कहते है कि- "भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है ।"[1] जब मनुष्य इसे प्राप्त कर लेता है तो सभी उसके प्रेमपात्र बन जाते है । वह किसी मे घृणा नहीं करता, वह सदा के लिए सन्तुष्ट हो जाता है । इस प्रेम स किसी काम्य वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक सासारिक वासनाए घर किए रहती है, तब तक इस प्रेम का उदय ही नहीं होता । "भक्ति कर्म स श्रेष्ठ है और ज्ञान तथा योग से भी उच्च है, क्योंकि इन सबका एक न एक लक्ष्य है जब कि भक्ति स्वय ही साध्य एव साधन स्वरूप है ।"[2]

भक्ति की विशेष रूप से व्याख्या करने वाले शाण्डिल्य एव नारद जैसे महापुरूषों को छोड देने पर भी स्पष्टत वेदान्त दार्शनिकों- आचार्य शकर एव रामानुज तथा व्यास सूत्र के महान भाष्यकारों ने भी भक्ति के सम्बन्ध मे बहुत कुछ बताया है । आचार्य शकर यद्यपि ज्ञानमार्ग के समर्थक है किन्तु वे भक्तिमार्ग के विरोधी कदापि नहीं है । उन्होंने भी भक्ति को ज्ञान की प्राप्ति मे आवश्यक

---

1 नारद भक्ति सूत्र 1, (सा तु अस्मिन् परम प्रेमरूपा)

2 नारद भक्ति सूत्र 30 - ' सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्य अपि अधिकतरा ।
स्वय फलरूपता इति ब्रह्मकुमारा ।। '

बनाया है । आचार्य शकर के भक्ति सम्बन्धी विचार ' जन्माद्यस्य यत ', ' अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ' तथा ' आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ' इन ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या मे स्पष्टत परिलक्षित होते है ।

वस्तुत भक्तियोग ईश्वर की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है । किन्तु इससे एक विशेष भय की भी आशका रहती है । वह यह कि भक्ति अपनी निम्न या गौणी अवस्था मे मनुष्य को बहुधा भयानक मतान्ध और कट्टर बना देती है । हिन्दू, इस्लाम या ईसाई धर्म मे जहाँ कहीं इस प्रकार के धर्मान्ध व्यक्तियों का दल है, वह सदैव ऐसे ही निम्न श्रेणी के भक्तों द्वारा गठित हुआ है । वह इष्ट-निष्ठा जिसके बिना यथार्थ प्रेम का विकास सम्भव नहीं, प्राय दूसरे सब धर्मों की निन्दा का कारण भी बन जाती है । किन्तु यह आशका भक्ति की केवल निम्नतर अवस्था मे ही होती है । इस अवस्था को 'गौणी' कहते है । परन्तु जब भक्ति परिपक्व होकर उस अवस्था को प्राप्त हो जाती है, जिसे हम ' परा ' कहते है तब इस प्रकार की भयानक मतान्धता और कट्टरता की फिर आशका नहीं रह जाती । इस ' पराभक्ति ' से अभिभूत व्यक्ति प्रेम स्वरूप भगवान के इतने निकट पहुँच जाता है कि वह फिर दूसरों के प्रति घृणा-भाव के विस्तार यन्त्र-स्वरूप नहीं हो सकता ।

यह सभव नहीं कि इसी जीवन मे हममे से प्रत्येक, सामञ्जस्य के साथ अपना चरित्र गठन कर सके, फिर भी हम जानते है कि जिस चरित्र मे ज्ञान,

भक्ति और योग - इन तीनों का सुन्दर सम्मिश्रण है, वही सर्वोत्तम कोटि का है । एक पक्षी के उडने के लिए तीन अगों की आवश्यकता होती है- दो पख और पतवार स्वरूप एक पूछ । ज्ञान और भक्ति दोनों दो पख है और योग पूछ जो सामञ्जस्य बनाये रखता है । जो इन तीनों साधना प्रणालियों का एक साथ सामञ्जस्य सहित अनुष्ठान नहीं कर सकते, और इसलिए केवल भक्ति को अपने मार्ग के रूप मे अपना लेते है, उन्हे यह सदैव स्मरण रखना आवश्यक है कि यद्यपि बाह्य अनुष्ठान और क्रियाकलाप आरम्भिक दशा मे नितान्त आवश्यक है, फिर भी भगवान के प्रति प्रगाढ प्रेम उत्पन्न कर देने के अतिरिक्त उनकी और कोई उपयोगिता नहीं ।

यद्यपि ज्ञान और भक्ति दोनों ही मार्गो के आचार्यो का भक्ति के प्रभाव मे विश्वास है, फिर भी उन दोनों मे कुछ थोडा सा मतभेद है । ज्ञानी की दृष्टि मे भक्ति मुक्ति का एक साधनमात्र है, पर भक्त के लिए यह साधन भी है और साध्य भी । मेरी दृष्टि मे तो यह भेद नाममात्र का है । वास्तव मे, जब भक्ति को हम एक साधन के रूप मे होते है, तो उसका अर्थ केवल निम्न स्तर की उपासना होता है और यह निम्न स्तर की उपासना आगे चलकर ' परा ' भक्ति मे परिणत हो जाती है । ज्ञानी और भक्त दोनों ही अपनी-अपनी साधना प्रणाली पर विशेष जोर देते है, वे यह भूल जाते है कि पूर्ण भक्ति के उदय होने से पूर्ण ज्ञान बिना मागे ही प्राप्त हो जाता है और इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान के साथ पूर्ण भक्ति भी स्वत ही आ जाती है ।

' आवृत्तिसकृदुपदेशात् ' सूत्र की व्याख्या करते हुए भगवान शकराचार्य कहते है कि- " लाग ऐसा कहते है, ' वह गुरू का भक्त है, वह राजा का भक्त है ', और वे यह बात उस व्यक्ति को सम्बोधित कर कहते है, जो गुरू या राजा का अनुसरण करता है तथा इस प्रकार यह अनुसरण ही जिसके जीवन का ध्येय है । इस प्रकार जब वे कहते है, ' एक पतिव्रता स्त्री अपने विदेश-गय पति का ध्यान करती है, तो यहाँ भी एक प्रकार से उत्कण्ठा युक्त निरन्तर स्मृति का ही लक्ष्य किया गया है ।"[1] शकराचार्य के मतानुसार यही भक्ति है ।

इसी प्रकार ' अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ' सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य रामानुज कहते है कि- "एक पात्र से दूसरे पात्र मे तेल डालने पर जिस प्रकार वह एक अखण्ड धारा मे गिरता है, उसी प्रकार किसी ध्येय वस्तु के निरन्तर स्मरण को ध्यान कहते है । जब इस प्रकार की ध्यानावस्था ईश्वर के सम्बन्ध मे प्राप्त हो जाती है, तो सारे बन्धन टूट जाते है । इस प्रकार, शास्त्रों मे इस निरन्तर स्मरण को मुक्ति का साधन बतलाया है । शास्त्रों मे प्रमुख स्थानों पर कहा गया है कि उपासना का अर्थ निरन्तर स्मरण ही है । अतएव श्रुतियों ने उस स्मृति को, जिसने प्रत्यक्ष अनुभूति का रूप धारण कर लिया है, मुक्ति का साधन बतलाया है । आत्मा की अनुभूति न तो नाना प्रकार की विद्याओं से हो सकती है, न बुद्धि से और न बारम्बार वेदाध्ययन से । जिसको यह आत्मावरण करती है, वही इसकी प्राप्ति करता है तथा उसी के सम्मुख आत्मा अपना स्वरूप

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र 4 । ।

प्रकट करती है । भगवान ने स्वय कहा है, ' जो मुझमे सतत युक्त है और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते है उन्हे मै ऐसा बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते है ' । इसीलिए कहा गया है कि जिसे यह प्रत्यक्ष अनुभवात्मक स्मृति अत्यन्त प्रिय है, उसी को परमात्मा वरण करते है, वही परमात्मा की प्राप्ति करता है, क्यों कि जिनका स्मरण किया जाता है, उन परमात्मा को यह स्मृति प्रिय है । यह निरन्तर स्मृति ही ' भक्ति ' शब्द द्वारा अभिहित हुई है ।"[1]

पतजलि के ' ईश्वरप्रणिधानाद्वा ' सूत्र की व्याख्या करते हुए भोज कहते है, "प्रणिधान वह भक्ति है, जिसमे इन्द्रिय भोग आदि समस्त फलाकाक्षाओं का त्याग कर सारे कर्म उन परमगुरू परमात्मा को समर्पित कर दिये जाते है"।[2] भगवान व्यास ने भी इसकी व्याख्या करते हुए कहा है, "प्रणिधान वह भक्ति है, जिसमे उस योगी पर परमेश्वर का अनुग्रह होता है और उसकी सारी आकाक्षाएँ पूर्ण हो जाती है ।"[3] शाण्डिल्य के मतानुसार "ईश्वर मे परमानुरक्ति ही भक्ति है ।"[4] पराभक्ति की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या तो वह है, जो भक्तराज प्रहलाद ने दी है- "जैसी तीव्र आसक्ति अविवेकी पुरूषों की इन्द्रिय - विषयों मे होती है, (तुम्हारे प्रति) उसी प्रकार की (तीव्र) आसक्ति तुम्हारा स्मरण करते समय कहीं मेरे हृदय

---

1 रामानुज भाष्य, ब्रह्मसूत्र, । । ।

2 भोजवृत्ति, पातजलि योगसूत्र, । 23

3 व्यास भाष्य, पातजलि योगसूत्र - । 23

4 शाण्डिल्य सूत्र, । 2

न चला न जाय ।"[1] इसके समर्थन मे एक प्राचीन आचार्य को उद्धृत करते हुए अपने श्रीभाष्य मे रामानुज कहते है, "ब्रह्मा से लेकर एक तृण पर्यन्त ससार के समस्त प्राणी कर्मजनित जन्म-मृत्यु के वश मे है, अतएव अविद्यायुक्त और परिवर्तनशील होने के कारण वे इस योग्य नहीं कि ध्येय-विषय के रूप मे वे साधक के ध्यान मे सहायक हों ।" शाण्डिल्य के ' अनुरक्ति ' शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार स्वप्नेश्वर कहते है- उसका अर्थ है- ' अनु ' अर्थात् ' पश्चात् ' और रक्ति अर्थात् ' आसक्ति ', इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह आसक्ति जो भगवान के स्वरूप और उनकी महिमा के ज्ञान के पश्चात् आती है ।[2] अन्यथा स्त्री, पुत्र आदि किसी भी व्यक्ति के प्रति अन्ध आसक्ति को ही हम भक्ति कहने लगें । अत हम स्पष्ट देखते है कि आध्यात्मिक अनुभूति के निमित्त किए जाने वाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा या क्रम ही भक्ति है, जिसका प्रारम्भ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम मे ।

{ख} **उपासना का अर्थ, एव परिभाषा -**

किसी अलौकिक, अतिप्राकृतिक या दैवी शक्ति अथवा सत्ता मे मनुष्य का विश्वास धर्म का मूल आधार तथा अनिवार्य तत्व है । वस्तुत धर्म का यही तत्व उसे दर्शन और विज्ञान से पृथक् करता है, जिनका मुख्य आधार आस्था न

---

1 विष्णु पुराण, । 20 ।9

2 शाण्डिल्य सूत्र, स्वप्नेश्वर टीका, । 2

होकर तर्कबुद्धि है । दार्शनिक तथा वैज्ञानिक के विपरीत धर्म-परायण व्यक्ति अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रति अपने इस आस्थापूर्ण, दृष्टिकोण के अनुरूप ही जीवन और जगत् की समस्याओं पर विचार करता है, उसके जीवन मे अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रति अखण्ड आस्था अथवा श्रद्धा का सर्वोपरि स्थान होता है । यही आस्था या श्रद्धा धर्म परायण व्यक्ति के मन मे प्रार्थना, पूजा अथवा उपासना को जन्म देती है, जो धर्म का अनिवार्य अग है, तथा जिसके माध्यम से धार्मिक अनुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति होती है ।

विश्व के सभी धर्मो मे- चाहे वे अविकसित हों या विकसित, ईश्वरवादी हों या निरीश्वरवादी, पूजा उपासना अथवा प्रार्थना किसी न किसी रूप मे अवश्य पाई जाती है । मानवीय सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य भोजन, आश्रय, सुरक्षा आदि जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अतिप्राकृतिक शक्तियों से पूजा या प्रार्थना किया करता था । कालान्तर मे मानवीय सभ्यता का पर्याप्त विकास हो जाने पर भी इस स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नहीं आया । भारत मे वैदिक धर्म इस बात का प्रमाण है । वेद मत्रों मे इन्द्र, अग्नि, वरूण, सूर्य आदि देवताओं की जो उपासनाए पाई जाती है, उनका मुख्य उद्देश्य मानव-जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सुख समृद्धि ही है । वैदिक धर्म के समान ही यहूदी धर्म, ईसाई धम इस्लाम आदि ईश्वरवादी धमो मे भी मुख्यत इसी प्रकार की प्रार्थनाए पाई जाती है । यहॉं यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की उपासना केवल ईश्वरवादी धर्मो, तक ही सीमित नहीं है । जैन तथा बौद्ध धर्म

आदि निरीश्वरवादी धर्मो मे भी पूजा या उपासना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इन धर्मों के अनुयायी भी ईश्वर के स्थान पर कुछ अन्य अतिप्राकृतिक सत्ताओं मे आस्था रखते है । इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रार्थना, पूजा अथवा उपासना धर्म का अनिवार्य तत्व है, जिसके अभाव मे उसके अस्तित्व की कल्पना करना सभव नहीं है ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि प्रार्थना अथवा उपासना का स्वरूप क्या है या उसकी परिभाषा कैसे दी जा सकती है ? यद्यपि अभी तक उपासना की कोई निश्चित एव सर्वमान्य तथा पूर्णत दोषरहित परिभाषा नही दी जा सकी है, फिर भी प्रार्थना या उपासना के मूलभूत तत्वों तथा उसकी आधारभूत मान्यताओं को ध्यान मे रखते हुए हम यह कह सकते है कि उपासना आस्था पर आधारित वह धार्मिक कृत्य है, जिसके माध्यम से उपासक किसी अतिप्राकृतिक उपास्य सत्ता के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करता है, जिसके द्वारा वह स्वय अपने लिए या दूसरों के लिए उपास्य सत्ता से सुख, समृद्धि एव शान्ति की याचना करता है तथा आशा करता है कि उसकी यह याचना स्वीकार की जाएगी और जिसके माध्यम से उपास्य सत्ता के प्रति उसकी अपार श्रद्धा एव विनम्रता की अभिव्यक्ति होती है ।

(ग) प्रतीक तथा प्रतिमा-उपासना -

प्रतीक का अर्थ है वे वस्तुए जो थोडे-बहुत अश मे ब्रह्म के स्थान मे उपास्य रूप मे ली जा सकती है । इस सम्बन्ध मे आचार्य रामानुज कहते है-

"जा वस्तु ब्रह्म नही है, उसमे ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्म का अनुसन्धान करना प्रतीकोपासना है ।"[1] भगवान शकराचार्य कहते है- "मन की ब्रह्मरूप से उपासना करो, यह आध्यात्मिक उपासना है, और आकाश ब्रह्म है, यह आधि दैविक । मन आभ्यन्तरिक प्रतीक है और आकाश बाह्य । इन दोनों की ही उपासना ब्रह्म के रूप म करनी होगी ।"[2] प्रतीक शब्द का अर्थ, किसी की ओर जाना, और प्रतीकोपासना का अथ ब्रह्म के स्थान मे ऐसी किसी वस्तु की उपासना करना, जो कुछ या अधिक अशों मे ब्रह्म के सदृश हो, पर स्वय ब्रह्म न हो । श्रुतियों मे वर्णित प्रतीकों क अतिरिक्त पुराणों और तन्त्र शास्त्रों मे भी प्रतीकों का उल्लेख है । सब प्रकार की पितृ-उपासना और देवोपासना इस प्रतीकोपासना के अन्तर्गत रखी जा सकती है ।

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि एकमात्र ईश्वर की उपासना ही भक्ति है । देव, पितर या अन्य किसी की उपासना भक्ति नहीं कही जा सकती । विभिन्न दवताओं की जो विभिन्न उपासना - पद्धतियाँ है, उनकी गणना कर्मकाण्ड मे ही की जाती है । उसके द्वारा उपासक को किसी प्रकार के स्वर्गभोग के रूप मे एक विशिष्ट फल ही मिलता है, उससे न भक्ति होती है न मुक्ति । अतएव जब किसी दवता या अन्य किसी पुरूष की उपासना उस देवता या पुरूष के रूप मे

---

1 रामानुज भाष्य, ब्रह्मसूत्र, 4 । 5

2 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, 4 । 5

ही की जाती है, तो इस प्रकार की उपासना एक कर्ममात्र है और यह एक विद्या होने के कारण, उपासक उस विशेष विद्या का फल भी प्राप्त करता है । परन्तु जब उस देवता या पुरूष को ब्रह्म रूप मानकर उसकी उपासना की जाती है तो उससे वही फल प्राप्त होता है जो ईश्वरोपासना से । अद्वैतवादी कहते है ' नामरूप का अलग कर लेने पर क्या प्रत्येक वस्तु ब्रह्म नही है ?' विशिष्टाद्वैतवादी कहते है- ' वे प्रभु क्या सबकी अन्तरात्मा नहीं है ?' आचार्य शकर कहते है- "आदित्य आदि की उपासना का फल वह ब्रह्म ही देता है, क्योंकि वही सब का नियन्ता है । जिस प्रकार प्रतिमा मे विष्णुदृष्टि आदि करनी पडती है, उसी प्रकार प्रतीकों मे भी ब्रह्म-दृष्टि करनी पडती हे । अतएव समझना होगा कि यहाँ पर वास्तव मे ब्रह्म की ही उपासना की जा रही है ।"[1]

प्रतीक से सम्बन्धित प्राय सभी बातें प्रतिमा के विषय मे भी घटित होती है- अर्थात् यदि प्रतिमा किसी देवता या किसी महापुरूष की सूचक हो, तो ऐसी उपासना भक्ति-प्रसूत नहीं है, वह हमे मुक्ति नहीं दे सकती । पर वह यदि उसी एक परमेश्वर की सूचक हो, तो उस उपासना से भक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त हो सकती है । ससार के मुख्य धर्मो मे से वेदान्त, बौद्ध धर्म एव ईसाइ धर्म के कुछ सम्प्रदाय बिना किसी आपत्ति के प्रतिमाओं का उपयोग करते है । केवल

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, 4 । 5

ही की जाती है, तो इस प्रकार की उपासना एक कर्ममात्र है और यह एक विद्या होने के कारण, उपासक उस विशेष विद्या का फल भी प्राप्त करता है । परन्तु जब उस देवता या पुरूष को ब्रह्म रूप मानकर उसकी उपासना की जाती है तो उससे वही फल प्राप्त होता है जो ईश्वरोपासना से । अद्वैतवादी कहते है ' नामरूप को अलग कर लेने पर क्या प्रत्येक वस्तु ब्रह्म नही है ?' विशिष्टाद्वैतवादी कहते है- ' वे प्रभु क्या सबकी अन्तरात्मा नहीं है ?' आचार्य शकर कहते है- "आदित्य आदि की उपासना का फल वह ब्रह्म ही देता है, क्योंकि वही सब का नियन्ता है । जिस प्रकार प्रतिमा मे विष्णुदृष्टि आदि करनी पडती है, उसी प्रकार प्रतीकों मे भी ब्रह्म-दृष्टि करनी पडती है । अतएव समझना होगा कि यहाँ पर वास्तव मे ब्रह्म की ही उपासना की जा रही है ।"[1]

प्रतीक से सम्बन्धित प्राय सभी बातें प्रतिमा के विषय मे भी घटित होती है- अर्थात् यदि प्रतिमा किसी देवता या किसी महापुरूष की सूचक हो, तो ऐसी उपासना भक्ति-प्रसूत नही है, वह हमे मुक्ति नहीं दे सकती । पर वह यदि उसी एक परमेश्वर की सूचक हो, तो उस उपासना से भक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त हो सकती है । ससार के मुख्य धर्मो, मे से वेदान्त, बौद्ध धर्म एव ईसाइ धर्म के कुछ सम्प्रदाय बिना किसी आपत्ति के प्रतिमाओं का उपयोग करते है । केवल

---

1 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, 4 । 5

इस्लाम और प्रोटेस्टेन्ट ही ये दो ऐसे धर्म है, जो इस सहायता की आवश्यकता नहीं मानते । फिर भी, मुसलमान प्रतिमा के स्थान मे अपने पीरों और शहीदों की कब्रों का उपयोग करते है । ईसाई एव इस्लाम धर्म मे जो कुछ प्रतिमा-उपासना विद्यमान है, वह उसी श्रेणी की है, जिसमे प्रतीक या प्रतिमा की उपासना केवल प्रतीक या प्रतिमा रूप से होती है, ब्रह्मदृष्टि से नहीं । अतएव वह कर्मानुष्ठान के ही समान है- उससे न भक्ति मिल सकती है, न मुक्ति । इस प्रकार की प्रतिमा पूजा मे उपासक ईश्वर को छोड अन्य वस्तुओं मे आत्मसमर्पण कर देता है और इसलिए प्रतिमा, कब्र, मन्दिर आदि के इस प्रकार उपयोग को ही सच्ची मूर्ति पूजा कहते है । पर वह न तो कोई पाप कर्म है और न कोई अन्याय- वह तो बस एक कर्ममात्र है और उपासकों को उसका फल भी अवश्य मिलता है ।

7 कर्म-सिद्धान्त आचार्य शकर -

' कर्म ' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत के ' कृ ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है- ' करना ' । अत ' कर्म ' शब्द का धात्वर्थ होता है- किया हुआ कोई कार्य । कार्य, मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार का हो सकता है, अत कर्म के व्यापक अर्थ मे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की क्रियाए हो सकती है । यद्यपि डॉ0 दास गुप्ता ने वैदिक काल के ' कर्म ' के विषय मे कहा है कि यह "वैदिक यज्ञों के करने तक ही सीमित था ।"[1] और यद्यपि यह सामान्यत शारीरिक कार्यों के अर्थ तक ही सीमित रहता है, किन्तु ऐसा कोई कारण नहीं

---

1 इण्डियन आइडियलिज्म, पृ0 - 2

दिखाई दता कि इसका अर्थ इतने तक सीमित रखा जाय । हमारी इच्छाए और विचार हमारे मानसिक कार्य है । बाहरी कार्यो की तरह उनसे भी चरित्र की अभिव्यक्ति होती है और शारीरिक कार्यो की तरह ही हमारे मन पर उनका प्रभाव अकित होता है । वस्तुत हमारे विचार, इच्छाओं और वृत्तियों के कारण ही हमारे सभी बाहरी कार्य सम्पन्न होते है ।[1] सम्भवत इसीकारण वृहदारण्यक उपनिषद् और श्रीमद्भगवद् गीता मे क्रमश इच्छाओं तथा मानसिक वृत्तियों को ही व्यक्तित्व का निर्धारक माना गया है । वास्तव मे कर्मवाद के अन्तर्गत कर्म को किसी विशेष प्रकार के कार्य तक सीमित नहीं माना गया है । उसमे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कर्म आ जाते है ।

सक्षेप मे, कर्म-सिद्धान्त का अर्थ है- लोग जैसा बोते है, वैसा काटते है । कर्मवाद के अनुसार, स्वेच्छा से किए गये हमारे कोई कार्य, विचार तथा इच्छाए आदि व्यर्थ नहीं जाती है । हमे उन सबका परिणाम भोगना और अनुभव करना पडता है । इस सन्दर्भ मे ' कृतप्रणाश ' और ' अकृताभ्यागम ' का उल्लघन कदापि नहीं हो सकता । ' कृत प्रणाश ' का तात्पर्य है- ' किए हुए कर्मो के परिणाम का कभी विनाश नहीं होता ' और ' अकृतभ्यागम ' का अर्थ है- न किए हुए कर्म के परिणाम का आगम नहीं होता है '। इस प्रकार हमे अपने इस जीवन मे तथा पिछले अनेक जन्मों मे किए हुए कमो का फल भोगना पडता है । डॉ0 दास गुप्ता के शब्दों मे- "कर्म का सिद्धान्त प्राय सर्वत्र नैतिक नियम के रूप मे स्वीकार

---

1 वृहदारण्यक उपनिषद्, 4 4 5

किया जाता है । इसके कारण हर व्यक्ति को अपने कर्मो का भला-बुरा फल भोगना पडता है ।"[1] किसी व्यक्ति द्वारा किए गये शुभ या अशुभ कर्मो का फल उस व्यक्ति को अवश्य ही भोगना पडेगा, बिना भोगे कर्म सैकडों कल्प मे भी क्षीण न होंगे । ऐसा कोई पर्वत, आकाश, समुद्र या स्वर्ग नहीं है जहाँ कोई अपने किए हुए कर्मों का स्वय फल न भोगता हो । ह्यूम ने भी कहा है कि मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार यह जीवन समाप्त करके मृत्यु के बाद उच्च या निम्न श्रेणी के जीव का शरीर धारण करता है ।[2]

किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हमारे वर्तमान कर्मो के सभी फल अगले जीवन या उसके बाद आने वाले जीवनों के लिए इकट्ठे होते रहे या इस नियम के अनुसार वर्तमान कर्मो का फल किसी भी दशा मे हमारे इसी जीवन मे न मिलें । हमारे कुछ कर्मो का फल इसी जीवन मे मिल सकता है । यदि वे अधिक शक्तिशाली हुए तब तो उनका फल शीघ्र मिलेगा ही । कर्म-सिद्धान्त मे यह नहीं माना गया है कि हमारे कर्मों का फल यहीं और अभी नहीं मिल सकता, किन्तु सामान्य रूप से इसमे कर्मों के उन फलों का निर्देश किया गया है, जिन्हे मनुष्य अगले जन्मों मे भोगेगा । हमारे कर्म चाहे पूर्व जीवन के हों या इसी जीवन मे किए गये हों, उनकी सापेक्ष शक्ति पर हमारे वर्तमान काल के सुख-दुख आश्रित रहते है । अत कर्मवाद के समर्थक मानव कर्मो के तात्कालिक प्रभाव को अस्वीकार

---

1 इण्डियन आइडियलिज्म पृ0 - 3

2 आर0ई0 ह्यूम, इण्ट्रोडक्शन टू हिज ट्रान्सकेशन ऑफ ' थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स, पृ0 - 54

नहीं करते है । कम से कम शकर तो इस बात को बिल्कुल अस्वीकार नहीं करते है । वे गीता के इस मत का समर्थन करते है कि इस ससार मे मनुष्यों द्वारा निष्ठापूर्वक किए गये कर्मों का शीघ्र ही फल मिलता है ।[1]

आचार्य शकर के अनुसार, व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसका स्थूल शरीर नि सन्देह नष्ट हो जाता है, किन्तु जीव अपने सूक्ष्म शरीर के साथ इधर-उधर जाता है और अपने पूर्व विचारों, इच्छाओं और कर्मों के अनुसार एक उपयुक्त शरीर फिर धारण करता है ।[2] भले-बुरे शरीर की प्राप्ति उसके अपने कर्मो के परिणामस्वरूप ही होती है । किसी व्यक्ति द्वारा किया हुआ कार्य बिना फल दिए व्यर्थ नहीं जाता । मुख्य रूप से मृत्यु-काल के समीप आए हुए विचार और इच्छाए उसके अगले शरीर का स्वरूप निर्धारित करते है ।[3] ससार का चक्र भी कर्म के द्वारा ही चला करता है ।[4] शुभ कर्म करने वाला व्यक्ति स्वर्ग आदि उत्तम लोकों मे जाता है और यदि उसके कर्म बुरे है तो उसे नर्क आदि निम्न लोकों मे गिरना पडता है, किन्तु यदि उसके शुभ और अशुभ कर्म समान हुए तो वह मनुष्य शरीर मे पुन जन्म लेगा ।[5] भौतिक शरीर जो सभी सुख-दुखों का

---

1 भगवद् गीता, 4 ।4 (क्षिप्र हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा)

2 शाकर भाष्य केन, 3

3 शाकर भाष्य गीता, 8 6

4 शाकर भाष्य गीता, 3 ।3 (जगच्चक्र प्रवृत्ति हेतु हि कर्म)

5 शाकर भाष्य, प्रश्नोपनिषद् 3 7

वास-स्थान है, मनुष्य को अपने कर्मो के अनुसार ही प्राप्त होता है ।[1] अत शकर कहते है कि हमे अपने वर्तमान भाग्य पर पछताने की अपेक्षा उसके साथ सामञ्जस्य करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि हम स्वय अपने कर्मो के कारण उसके लिए उत्तरदायी है ।[2]

पूर्व जन्म मे मे किए गये जिन कर्मो के परिणाम हम प्राप्त करने लगते है उन्हे ' प्रारब्ध कर्म ' की सज्ञा दी जाती है ।[3] किन्तु कभी-कभी मनुष्य के वतेमान शुभ-अशुभ अनुभवों को भी प्रारब्ध कह दिया जाता है । अत स्वामी विवेकानन्द जी ने उचित ही कहा है कि ' कर्म ' कभी - कभी उस परिणाम को भी कहते है, जिसके कारण हमारे पूर्व कर्म थे ।[4]

अत हिन्दुओं का प्रारब्ध, ईसाइयों के ' फेट ' अथवा मुसलमानों की ' किस्मत ' की सस्कृति से भिन्न है । ईसाइ और मुस्लिम वर्ग, व्यक्ति के पूर्व जन्म या कर्मो मे विश्वास नहीं करते है । अतएव ' फेट ' या ' किस्मत ' उनके ऊपर बाहर से आरोपित की जाती है । अपने स्रष्टा की वे ऐसी ही इच्छा समझकर उसे सहन करते है । इसके विपरीत हिन्दुओं का ' प्रारब्ध ' अपने ही कर्मों की रचना है । अपने पूर्व कर्मों के अतिरिक्त ' प्रारब्ध ' या ' दैव ' और

---

1 आत्मबोध, 12

2 अपरोक्षानुभूति, 89

3 अपरोक्षानुभूति, 92

4 कर्मयोग, पृ0 - 1

कुछ नहीं है ।[1] वह समान रूप से बनाया या बिगाडा जा सकता है । अपने ही कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त ' प्रारब्ध ' हमारी न्याय-भावना के अनुकूल दिखायी देता है, इसलिए वह हमारे लिए कुछ विचित्र नहीं है । वह ' फेट ' या ' किस्मत ' की तरह हमे असहाय नहीं छोड देता है । इसके विपरीत, उसके कारण हमे साहस मिलता है । हम अपनी बहुत सी हानियों का दुष्परिणाम सहज ही सहन कर लेते है । निराशा की दशा मे भी हमारा साहस नहीं छूटता है । डॉ0 एस0एस0 सूर्य नारायण ने ठीक ही कहा है कि - "यद्यपि यह धारणा पश्चिमी विचारधारा के विपरीत है, किन्तु इसमे सन्देह नहीं कि पूर्व मे हमे इसस बडा धैर्य और सन्तोष मिलता है ।"[2] इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि कर्मवाद मे निष्ठा रखने वाले व्यक्ति के जीवन पर इसका अनुकूल प्रभाव पडता है । प्रो0 मैक्समूलर के शब्दों मे हम कह सकते है कि - "मनुष्य के चरित्र पर उसका बहुत सुन्दर प्रभाव पडता है । यदि कोई समझता है कि उसके सारे दुखभोग उसी के पूर्व कर्मों के फल है तो वह एक ऋणी की भाति अपने ऋण का भुगतान समझकर उन्हे सहज ही सहन कर लेगा । और यदि वह समझता है कि अपने दु खभोगों के साथ अपना पुराना ऋण चुकाने के अतिरिक्त वह अपने नैतिक आचारण के द्वारा भविष्य के लिए पूँजी जुटा रहा है, तो उसे शुभ कर्म करने के लिए

---

1 योगवाशिष्ठ, 2 6 4

2 डॉ0 नौलखा, ब्रह्मवाद पृ0 - 266

भी प्रेरणा मिलेगी ।[1] शकर स्वय इस बात का समर्थन करते है कि- मनुष्य को केवल शुभ विद्या और शुभ कर्मादि का आचरण करना चाहिए, क्योंकि पूर्व जन्म के कर्म, विद्या और प्रज्ञा के अनुसार ही अगला शरीर प्राप्त होता है और भोग भोगने पडते है ।[2]

किन्तु पुनश्च, प्रश्न हो सकता है कि पिछले जीवन के कर्मो का फल अज्ञात समय के एक बडे अन्तराल के बाद इस जीवन मे कैसे मिल सकता है ? वस्तुत जो लोग आत्मा की अमरता और सस्कारों के चिरस्थायित्व मे विश्वास नहीं रखते, उनके लिए यह प्रश्न बडा जटिल हो सकता है । किन्तु भारत के अन्य अनेक विचारकों की तरह शकर को इसका उत्तर देना कुछ कठिन नहीं है । उनके मतानुसार हमारे सभी अनुभवों एव विचारों के सस्कार निर्मित होते रहते है । इसमे सन्देह नहीं कि वास्तविक अनुभव तो आते है और चले जाते है किन्तु विश्वास किया जाता है कि उनका प्रभाव हमारे ऊपर बना रहता है। वे हमारे मन के गहन स्तर तक चले जाते है और वहीं से वे हमारे भावी व्यवहार और अनुभवों का स्वरूप निर्धारित किया करते है । कोई भी शुभ-अशुभ अनुभूति सदा के लिए नष्ट नहीं होती है । वह किसी न किसी रूप मे बनी अवश्य रहती है, वह हमारे मन के चेतन स्तर पर भले ही प्रतीत न हो किन्तु अचेतन भाग मे अवश्य छिपी रहती है ।

---

1 थ्री लेक्चर्स आन वेदान्त फिलासफी पृ0 - 165

2 शाकर भाष्य, वृहदारण्यक, 4 4 2

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने यह दावा किया है कि हमारे कर्मो तथा विचारों के सस्कार स्थूल शरीर के नष्ट होने के बाद भी बने रहते है । कवल स्मृति शेष न रह जाने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे नष्ट हो गय है । यद्यपि मनोवैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व के विषय मे कुछ नहीं कहते, किन्तु इन मन -विश्लेषकों ने हमारे वर्तमान मानसिक जीवन के बारे मे जो कुछ बताया है उसके आधार पर इतना तो नि सन्देह कहा जा सकता है कि वर्तमान स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी सस्कारों के बने रहने की पूरी सभावना है । यदि मन की सूक्ष्मता तथा विस्तार उतना ही व्यापक है जैसा फ्रायड ने चित्रित किया है और यदि बचपन की दमित इच्छाए जीवन के अन्त तक बनी रहती सिद्ध होती है तो फिर भला वासनाए या सस्कार पूर्व जीवन से इस जीवन तक क्यों नहीं आ सकते ? अमर आत्मा सूक्ष्म शरीर को छोडकर स्वतत्र रूप से दूसरे शरीर मे प्रवेश कर सकती है । सूक्ष्म शरीर अत्यन्त सूक्ष्म तत्वों का बना होता है । उसके द्वारा सस्कारों का एक शरीर से दूसरे शरीर मे पहुँचना कुछ असभव प्रतीत नहीं होता ।

फ्रायड की तरह ही आचार्य शकर भी स्वप्न के अनुभवों द्वारा पूर्व जन्म और उसके सस्कारों का अनुमान करते है । उनका विचार है कि पूर्व जन्म का सकेत स्वप्न के उन अनुभवों और वस्तुओं के दर्शन से मिलता है जिनका अनुभव या दर्शन वर्तमान जाग्रत जीवन मे कभी नहीं प्राप्त हुआ । स्वप्न वासनाओं के कारण उत्पन्न होते है । उस स्थिति मे इन्द्रियों का सयोग बाह्य-वस्तुओं से

नहीं रहता । वासनाओं की उत्पत्ति वास्तविक अनुभव मे आने वाली वस्तुओं से ही होती है । अत शकर का मत है कि ये अनुभव जिनसे वासनाए उत्पन्न होती है या तो व्यक्ति के वर्तमान जीवन के हो सकते है या फिर उसके पूर्व जीवन के ।[1] लोग शैशवावस्था से ही अपनी मूल प्रवृत्तियों के कारण कुछ विशेष बातों म रुचि लेने लगते है । इस तथ्य से भी पूर्व जन्म का सकेत मिलता है। उनकी पुरानी वासनाए अस्पष्ट सस्कारों के रूप मे उनके साथ चली आती है ।[2] इस लिए शकर का दृढ मत है कि अपने सस्कार एव वासनाओं के अनुरूप ही मनुष्य शरीर धारण करता है ।[3]

किन्तु, आचार्य शकर, शरीर धारण करने मे हेतु के रूप मे मात्र ' वासना ' तथा ' सस्कार ' को ही पर्याप्त नहीं मानते । वे जड होने के कारण व्यक्ति को उस स्थान या उस शरीर मे स्वत नहीं ले जा सकते जो उन्हे अपने कर्मो और इच्छाओं के फलस्वरूप प्राप्त होने को होता है । अत शकर कर्म-सिद्धान्त को सचालित करने के लिए ईश्वर की मध्यस्थता स्वीकार करते है । उनके अनुसार ईश्वर प्राणियों के कर्मों का फल उन्हीं को वितरित करता है ।[4] वहीं पुण्य का सुख और पाप का दुख से सयोग कराता है । जैन, बौद्ध, साख्य, मीमासक आदि दर्शन के अनुयायी इस कार्य के लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते है । ऐसे दार्शनिकों का मत है कि, कर्म का सिद्धान्त यह कार्य

---

1 शाकर भाष्य वृहदारण्यक, 4 3 9
2 शाकर भाष्य गीता, 7 20
3 शाकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, 1 3 30, न्यायसूत्र, 3 1 21 और योगसूत्र 2 9
4 शाकर भाष्य गीता, 7 22, 8 9

स्वय करने की क्षमता रखता है । किन्तु शकर के विचार से कर्म-सिद्धान्त जैसी कोई जड वस्तु बुद्धि सम्पन्न नियन्ता के निर्देश बिना यह जटिल कार्य नहीं कर सकती है ।[1] अत शकर इस नियम को स्वत सक्रिय न मानकर सर्वशक्तिवान और सर्वव्यापी ईश्वर की सार्वभौमिक सत्ता के अन्तर्गत सचालित मानते है ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि "यदि भूत और वर्तमान के कर्मो का फल अपरिहार्य है तो उनके कारण एक के बाद एक जन्म लेना आवश्यक हो जाएगा और इस बन्धन से कभी छुटकारा नहीं मिलेगा । जीवित रहने के लिए कर्म करना ही पडेगा ोर कर्मो के परिणाम स्वरूप जन्म और जीवन बार-बार धारण ही करना पडेगा ।[2] इस प्रश्न को आचार्य शकर ने स्वय उठाया है और उसका उत्तर भी दिया है । उनका मत है कि केवल उसी व्यक्ति के कर्म, बन्धन के कारण होते है, जो फल की इच्छा से कर्म करते है और अपने शरीर तथा मन मे अह भाव रखते है । बन्धन-कारक कर्म भी उस व्यक्ति को बन्धन मे नहीं डालते, जो उन्हे समत्वभाव से करता है । कर्म, उन्हीं लोगों को बन्धन मे बाधते है जो कर्त्तव्य का अभिमान रखते है और जो उन कर्मो को करने और उनके फल-भोग की इच्छा रखते है । जो मनुष्य उनके फलों मे आसक्ति नहीं रखते और अहभाव से मुक्त है, वे उनके बधन मे भी नहीं पडते है ।[3] अत ब्रह्मज्ञानी

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 2 ।

2 शाकर भाष्य गीता, 3 5, 3 8 तथा 18 ।।

3 शाकर भाष्य गीता, 7 12

पर कर्म-सिद्धान्त लागू नहीं होता ।

कर्म-सिद्धान्त की उत्पत्ति एव प्राचीनता के विषय मे डॉ0 दास गुप्ता का मत है कि- "इसकी उत्पत्ति यज्ञ कार्यो के जादू जैसे प्रभाव मे विश्वास रखने क कारण हुई और कालान्तर मे सभी प्रकार के कार्य यज्ञ-कर्म समझे जाने लगे । अत यज्ञ कार्यों के फल को जैसा सुनिश्चित माना जाता था, वैसा ही सभी सम्भाव्य कमो का फल माना जाने लगा ।[1] प्रो0 ह्यूम के अनुसार ऋग्वेद मे कर्म-सिद्धान्त नहीं मिलता । वे कहते है- "यह ध्यातव्य है कि ऋग्वेद की परलोक-विद्या के अनुसार मनुष्य देवताओं के स्वर्ग मे अमर होकर रहता है । अथर्ववेद मे देहान्तर सिद्धान्त के केवल कुछ ही प्रारम्भिक चिह्न मिलते है । हम सबसे पहले उसे शतपथ ब्राह्मण मे ही स्पष्ट रूप से पाते है ।[2] किन्तु इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि उपनिषदों मे ऋषि, कर्म-सिद्धान्त से उसी प्रकार पूर्णत अभिज्ञ थे, जैसे आजकल हम लोग है ।[3] लेकिन उपनिषदों के ऋषियों को यह पूर्ण विश्वास था कि भौतिक जीवन मे किए गये कर्म एव विचारों का फल, पुनर्जन्म होने पर प्राप्त होता है ।[4] अतएव यह कहा जा सकता है कि कर्म-सिद्धान्त यदि अधिक पुराना नहीं है, तो कम से कम उपनिषदीय सस्कृति जितना प्राचीन अवश्य है ।

---

1 इण्डियन आइजियलिज्म पृ0 - 3

2 ऐन आउटलाइन ऑफ दि फिलासफी ऑफ दि उपनिषद्स, पृ0 - 54

3 छान्दोग्य, 5 10 7, कठ, 5 7

4 ऐन आउटलाइन ऑफ दिफिलासफी ऑफ दि उपनिषद्स, पृ0 - 55

जेन तथा बौद्ध दार्शनिकों ने शकर के समय से लगभग बारह शताब्दियों पूर्व ही इसे स्वीकार कर लिया था । आचार्य शकर का विचार अन्य दार्शनिकों से भिन्न हाते हुए भी उपनिषदों के प्राचीन ऋषियों के समान है । जैन तथा बौद्ध ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास नहीं रखते है, और बौद्ध तो स्थायी आत्मा का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, किन्तु शकर औपनिषदीय सस्कृति की भाति ही आत्मा एव ईश्वर दोनों के अस्तित्व मे विश्वास रखते है ।

कर्म-सिद्धान्त के लिए आत्मा का स्थायित्व उतना ही आवश्यक है, जितना कि ईश्वर का अस्तित्व । जब तक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता है, तब तक कर्म-सिद्धान्त की कोई सार्थकता नहीं रह जाती है । यदि हमारे वर्तमान जीवन के सुख-दुख आवश्यक रूप से हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों के परिणाम माने जाते है, तो हमे उन कर्मों को करने के लिए हमे इस जीवन से पूर्व अवश्य उपस्थित रहना चाहिए और इसी प्रकार, हमे वर्तमान स्थूल शरीर नष्ट होने के बाद भी जन्म-जन्मान्तर तक बने रहना चाहिए, जिससे हम अपने वर्तमान जीवन मे किए गए कर्मों का फल आगे आने वाले जन्मों मे भोग सके । अत कर्म-सिद्धान्त को मानने का अर्थ है- आत्मा को अनादि एव अनन्त मानना ।

कर्मवाद, कार्य-कारण सिद्धान्त का ही एक रूप है । कार्य-कारण सिद्धान्त का मानव-व्यवहार के क्षेत्र मे प्रयोग ही कर्म-सिद्धान्त कहा जाता है। यह सिद्धान्त इसी विश्वास का एक अग है कि ससार मे कुछ भी बिना कारण

के घटित नहीं होता है ।[1] यदि कार्य-कारण नियम प्रकृति मे सर्वत्र लागू होता है तो नैतिक जगत् के क्षेत्र मे उसका प्रयोग उचित क्यों न कहा जाएगा ?

कर्म-सिद्धान्त नैतिक न्याय की माग को भी पूरा करता है । प्रो0 मेकेन्जी के अनुसार- "हम स्वभावत मानते है कि मनुष्य को अपने कर्मो के अनुसार ही फल मिलना चाहिए । सद्गुणी मानव उन्नयन के लिए सघर्ष करता है और वह स्वभावत आशा रखता है कि देवता लोग उसकी सहायता करेगे और उसके श्रम को सफलता मिलेगी । यदि सज्जन पुरूष को कभी सफलता नहीं भी मिलती है तो भी हमे यह विश्वास रहता है कि अन्ततोगत्वा उसका पुरस्कार उसे अवश्य मिलेगा और यदि कोई दुष्ट कभी सम्पन्नता को प्राप्त करता हुआ दिखाई पडता है तो हम यही विश्वास रखते है कि उसकी विजय क्षणिक है और अन्त मे उसे अपने पापों के फलस्वरूप विनष्ट होना पडेगा ।[2] वस्तुत हमारा मन अपने कर्मो के अनुचित परिणाम या कोई फल न मिलने के विरूद्ध विद्रोह करता है । अतएव कर्म-सिद्धान्त हमारी नैतिक बुद्धि की ही स्पष्ट वाणी प्रतीत होता है ।

कर्म-सिद्धान्त मे अविश्वास रखने वाला, किन्तु ईश्वर पर विश्वास रखने वाला कोई भी व्यक्ति ईश्वर को अन्याय और अत्याचार के आरोप से बचा

---

1 प्रो0 एन0 वेकटरमन, सनातन धर्म, पृ0 - 72

2 ए मैनुअल ऑफ इथिक्स, पृ0 - 428-29

नहीं सकता । इसी तर्क के आधार पर आचार्य शकर ने ईश्वर की न्याय-प्रियता और निष्पक्षता को बडे दृढ स्वर मे सिद्ध किया है ।[1] ईश्वर की पक्षपात पूर्ण भावना हमारी न्याय-बुद्धि की जडे हिला देती है । प्रो0 रैशडल भी आचार्य शकर के उपर्युक्त मत से पूर्ण सहमत है ।[2]

8 मानवीय जीवन एव कर्त्तव्य शकर -

"मनुष्य बादलों से नहीं टपकता है । वह कुछ विशेष प्रवृत्तियों के साथ एक विशेष पर्यावरण मे जन्म लेता है । सामान्य रूप से उनका कार्य-क्षेत्र एक सीमित परिधि मे घिरा होता है । वह एक विशेष स्थिति मे आबद्ध होता है और वहीं उसका सामान्य जीवन परिचालित होता है । अपने कार्य को सुचारू रूप से सचालित करना ही उसके जीवन का मुख्य कर्त्तव्य होता है ।"[3] इसी प्रकार के विचार ब्रैडले ने भी व्यक्त किए है । उनके अनुसार- "मेरा तथा अन्य सभी लोगों का एक विशेष स्थान होता है और उसके अनुकूल उनके कर्त्तव्य होते है । ये कर्त्तव्य हमारी स्वेच्छा या रूचि पर आश्रित नहीं होते है । कुछ विशेष परिस्थितियों या दशाओं मे एक निश्चित मार्ग स्वीकार करना पडता है । हमे अपनी स्थिति के अनुसार कुछ विशेष कार्य करना पडता है । उन्हे करने की

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 ।

2 द थ्योरी ऑफ गुड एण्ड ईविल, खण्ड - 2, पृ0 - 345

3 ए मैनुअल ऑफ इथिक्स, पृ0 - 372

इच्छा हो या न हो, वे करने ही पडते है ।[1]

समाज अवयवी के समान है, भले ही शब्दस वह अवयवी न हो। उसके सदस्य उसके अवयवों की भाति होते है । हम सभी लोग समाज के सदस्य है । सब के लाभ मे हमारा भी लाभ सन्निहित है । समाज का स्वय मे कोई अस्तित्व नहीं है । उसका अस्तित्व उसके वैयक्तिक सदस्यों के अस्तित्व पर ही निर्भर है । इसमे सन्देह नहीं कि समाज एक यथार्थ और वास्तविक वस्तु है, सम्भवत वह उतना ही प्राचीन है, जितना व्यक्ति स्वय । तो भी उसका अपना कोई चेतना-केन्द्र नहीं है । इसकी चेतना का केन्द्र, इसको निर्मित करने वाले सदस्यों मे ही निहित है । अत व्यक्तियों के सचेतन-प्रयत्न द्वारा ही उनका स्वय का और साथ ही सम्पूर्ण समाज का कल्याण प्राप्त किया जा सकता है । यह कार्य उचित रूप से तभी हो सकता है, जब व्यक्ति अपना-अपना कार्य सुचारू रूप से सम्पादित करे ।

वस्तुत प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है और उसके मन की एक विशेष ओर झुकान होती है । शारीरिक बनावट और मुखाकृति के समान उसकी मानसिक रचना भी अन्य लोगों से भिन्न प्रकार की होती है । आधुनिक मनोवैज्ञानिक तथा प्लेटो ने इसी दृष्टिकोण से व्यक्तियों के तीन वर्गो की चर्चा करते है- विचारशील मनुष्य, कर्मशील मनुष्य और भावुक मनुष्य । वैज्ञानिक,

---

1 एथीकल स्टडीज, पृ0 - 176

दार्शनिक एव विद्वान लोग प्रथमवर्ग मे तथा सैनिक, सेनापति, राजनीतिज्ञ आदि द्वितीय वर्ग मे और कवि, कलाकार, सगीतज्ञ आदि तीसरी कोटि के अन्तर्गत आते है । स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए उपयोगी नही है। कभी भी कुत्ते से गधे का और गधे से कुत्ते का काम नहीं लिया जा सकता है। जिस व्यक्ति को अपने जीवन मे मनोनुकूल कार्य नहीं मिलता, वह असफल रहता है । क्षमता और स्वभाव के अनुसार काम करना सरल तथा सुविधापूर्ण रहता है। टाट को रेशमी वस्त्र बनाने से असफलता ही हाथ लगती है ।

सम्भवत वैदिक ऋषियों के मस्तिष्क मे ऐसे ही कुछ विचार रहे होंगे, जब उन्होंने प्रथम बार समाज को चार प्रसिद्ध वर्गों मे विभाजित किया था- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।[1] ब्राह्मण के विशेष गुण और कर्त्तव्य है- शान्ति, इन्द्रिय - निग्रह, शरीर और मन की शुद्धता, तप, क्षमा, ऋजुता, ज्ञानार्जन, शास्त्रों मे श्रद्धा रखना और उपदेश देना आदि । क्षत्रियों मे वीरता, शौर्य, तितिक्षा, चातुर्य, दान, युद्ध मे साहस आदि गुण होते है । वैश्य का कर्त्तव्य कृषि, पशुपालन और व्यापार है और शूद्र का सामान्य धर्म सेवा करना है ।[2] मनुष्य मात्र के इस वर्गीकरण के अतिरिक्त आयु के आधार पर उनके वर्गीकरण का एक क्रम और है- ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम ।[3] प्रत्येक आश्रम लगभग पच्चीस वर्ष का माना गया है । ब्रह्मचर्य आश्रम मे शेष तीन आश्रमों के लिए शारीरिक और मानसिक

---

1 ऋग्वेद, पुरूष सूक्त ।3 (ब्राह्मणोऽस्य शूद्रोऽजायत)

2 भगवद्गीता ।8, 42-44 और उस पर शाकर भाष्य, मनुस्मृति । 88

3 मनुस्मृति , 6 87

तैयारी की जाती है । गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के पहले नि सन्देह पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है । अत ब्रह्मचर्य आश्रम ज्ञान प्राप्त करने और अपने गुरू की सेवा करने के लिए निर्धारित होता है । गृहस्थ के कर्त्तव्य निश्चय ही अनेक होते है । उसे अपने परिवार को ही नहीं वरन् बौद्धिक तथा नैतिक विकास को ध्यान मे रखते हुए सामाजिक तथा अन्य प्रकार की अनेक समस्याओं को सुलझाना पडता है । अन्य सभी आश्रमों की तुलना मे गृहस्थ आश्रम को सर्वोत्तम और महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि शेष तीन आश्रमों के सदस्य गृहस्थ पर ही अवलम्बित रहते है ।[1] गृहस्थाश्रम के उपरान्त वानप्रस्थाश्रम आता है । इस अवधि के बीच लोग अपनी पत्नी के साथ, घर छोडकर तीर्थ यात्रा या बनवास करने के लिए चले जाते है । वहाँ वे शास्त्रों का अध्ययन करने तथा त्याग, तप, दया, क्षमा आदि का अभ्यास करके आत्म-विकास करने का अवसर पाते है । इस प्रकार वे चौथे आश्रम अर्थात् सन्यास आश्रम मे प्रवेश पाने के अधिकारी हो जाते है । सन्यासी को सारे समय अपने आध्यात्मिक उत्थान और अन्य लोगों की भलाई के लिए मन को एकाग्र करना होता है ।[2]

वर्णाश्रम धर्म की ये व्यवस्थाए आचार्य शकर भी स्वीकार करते है ।[3] किन्तु जहाँ तक ब्रह्मज्ञान का प्रश्न है, उसे उन्होंने किसी आश्रम तक सीमित

---

1 मनुस्मृति, 6 89

2 शाकर भाष्य, भगवद्गीता, 5 25

3 शाकर भाष्य भगवद्गीता, 2 31, शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 3 438, शाकर - भाष्य छान्दोग्य, 2 3 31

नहीं रखा है । उनके सत्य का मन्दिर सबके लिए खुला हुआ है ।[1] दिव्य अनुभूति सबके लिए सर्वत्र सम्भव है । जिस किसी को अपने आत्म-दर्शन की उत्कट अभिलाषा होती है, वह उसे प्राप्त कर सकता है, आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि वह स्वय को उसके योग्य बनाए और शकर के मतानुसार कोई भी व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र या स्तर मे रहते हुए यह कर सकता है । उनके विचार से वर्णाश्रम धर्म वस्तुत ब्रह्म या परम तत्व के दर्शन करने मे सहायक ही सिद्ध होता है ।[2] अपने वर्ण और आश्रम के अन्तर्गत विहित कर्त्तव्यों का पालन करने से नैतिक शक्ति अर्जित होती है ।[3] वर्णाश्रम धर्म का पालन करने से केवल अपनी सम्पन्नता ही प्राप्त नहीं होती है, बल्कि उससे नि श्रेयस् की भी सिद्धि होती है ।[4] सामान्यत, अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करने से सम्पन्नता और स्वर्ग प्राप्त होता है, किन्तु यदि उसके फल की इच्छा न रखते हुए उनको भगवद् समर्पित कर दिया जाता है तो उससे आत्म-शुद्धि होती है और जिसका मन तथा हृदय शुद्ध हो गया है, वह ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है । इसी क्षमता के द्वारा वह अपने जीवन का नि श्रेयस् प्राप्त करन मे सफल होता है ।[5] स्वभाव से नियत किए हुए कर्म करने से मनुष्य को पाप नही लगता है।

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 3 4 36-38

2 अपरोक्षानुभूति, 3

3 तत्वोपदेश, 75

4 शाकर भाष्य भगवद्गीता, 4 7

5 शाकर भाष्य भगवद्गीता, प्रस्तावना

किसी भी व्यक्ति को अपने सहज कर्मों को त्यागने का विचार न करना चाहिए, भले ही वे हीन प्रकार के प्रतीत होते हों ।[1] जीवन मे अपना स्थान समझते हुए पूर्ण मनोयोग से अपना धर्म पालन करने से जीवन मे सफलता प्राप्त होती है । इस प्रकार अपने वर्णाश्रम के कर्मों की नैतिकता का सम्बन्ध कर्मो से उतना नहीं है, जितना उस भावना से जिसके द्वारा वे किए जाते है ।

वस्तुत कोई कार्य-व्यापार अपने आप मे नैतिक रूप से न शुभ होता है और न अशुभ । व्यक्ति के कार्य-व्यापार का नैतिक मूल्य इस बात पर आश्रित है कि वह कैसे करता है । यदि वह उसे अपने पूर्ण मनोयोग से करता है, तो वह आदमी अच्छा है, किन्तु यदि वह उसे बेमन से करता है तो उसका कार्य ही नहीं वरन् उसकी नैतिकता पर भी आघात होता है । प्रो0 म्योरहेड के अनुसार - "अपनी पूरी क्षमता से कार्य न करने वाला कलाकार या लेखक न केवल हीनकर्मी होता है वरन् उसे अच्छा आदमी भी नहीं कहा जाता ।"[2] अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करने वाला व्यक्ति नि सन्देह समाज का बहुत उपयोगी सदस्य है। वह शरीर के एक अग की तरह समाज का अपरिहार्य सदस्य है । अत वर्णाश्रम धर्म के सामाजिक एव नैतिक मूल्य के विषय मे शका नहीं की जा सकती । प्रो0 हिरियन्ना का मत है कि- वर्णाश्रम धर्म या कर्म मनुष्य का वह कर्त्तव्य है जो

---

1 भगवद्गीता, 18 48 और उस पर शाकर भाष्य

2 एलीमेन्ट्स ऑफ इथिक्स, पृ0 - 47

उसके समाज से सम्बन्ध होने के कारण निर्धारित होता है और उसका सर्वाधिक मूल्य यही है कि उससे सबका कल्याण होता है । व्यक्ति का केवल अपना हित करने वाले काम्य-कर्मो के विपरीत इसका उद्देश्य समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करना होता है । मनुष्य की प्राथमिक प्रवृत्तियों को बुद्धिसगत बनाकर उसमे परार्थ भाव निर्मित करने मे इसकी प्रधान महत्ता है । यह सही है कि इसके द्वारा मनुष्य स्वार्थ से बिल्कुल मुक्त नहीं हो सकता, यह कार्य तो ज्ञान या आध्यात्मिक चेतना से ही सम्पन्न हो सकता है । किन्तु केवल इस कारण से उसका महत्व कम नहीं है, क्योंकि उसके बिना उस प्रारम्भिक नैतिकता का अभ्यास नहीं हो सकता जो मनुष्य को वह ज्ञान प्राप्त करने योग्य तैयार करता है । आत्म-साक्षात्कार के लिए वर्णाश्रम धर्म का सर्वोपरि महत्व भले ही न हो, किन्तु एक सीढी उतरकर तो उसका महत्व है ही । इसीलिए उसे मोक्ष का परोक्ष साधन कहा जाता है ।[1] प्रो० एस०के० मित्रा के अनुसार- "वर्णाश्रम धर्म सापेक्ष कर्त्तव्यों का विधान है, तथा यही हिन्दुओं का सापेक्ष नीतिशास्त्र है । इसमे समाज की नैतिकता और व्यक्ति की नैतिकता दोनों सम्मिलित है । आश्रमों के अनुसार विभाजन करने का आधार नैतिक जीवन का सर्जक दृष्टिकोण है । इस दृष्टिकोण के मनोवैज्ञानिक महत्व पर जितना बल दिया जाय कम है ।"[2]

---

1 प्रो० हिरियन्ना, इण्ट्रोडाक्शन टू नैष्कर्म्य सिद्धि, पृ० - 21-22

2 डॉ० एस०के० मित्रा, द इथिक्स ऑफ हिन्दूज, पृ० - 1

9 शाकर नैतिक दर्शन पर आक्षेप एव समाधान -

आचार्य शकर ने सामान्य और वर्णाश्रम धर्म के पालन पर विशेष बल दिया है । कतिपय विद्वानों ने आचार्य शकर के नैतिक दर्शन पर अनैतिकता का आरोप लगाया है । डॉ० राधाकृष्णन ने एक मैगजीन (जो कि मद्रास से 1916 मे प्रकाशित थी) मे प्रकाशित डॉ० हौग के निबन्ध ' अद्वैत एण्ड एथिक्स ' का उल्लेख किया है । डॉ० हौग का शाकर-नैतिक दर्शन पर आरोप यह है कि "व्यक्ति और परमसत्ता मे तत्वमीमासीय तादात्म्य होने के कारण नैतिकता के पालन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।"[1] पुनश्च, यदि केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है और नानात्व पूर्ण ससार छायामात्र है तो शुभ-अशुभ मे कोई वास्तविक भेद नहीं किया जा सकता है । यदि ससार भ्रम है तो पाप भी भ्रम ही है । फिर भला मनुष्य पाप क्यों न करे और अपराध से क्यों न खेले ? उससे बचने की क्या आवश्यकता है ?[2] प्रो० ह्यूम के अनुसार तत्वमीमासीय ज्ञान "ज्ञानी पुरूष को निर्लज्जतापूर्वक जघन्य पाप करने की भी स्वीकृति देता है, यद्यपि इस प्रकार के पाप अज्ञानी पुरूष को घातक परिणाम प्रदान करने वाले होते है ।"[3] शाकर-दर्शन मे ह्यूम को दूसरा दोष यह दिखाई पडता है कि इसमे गलतफहमी और दुरूपयोग की बहुत बडी गुजाइश है । साक्ष्य के रूप मे ह्यूम ने असुरों के स्वामी

---

1 इण्डियन फिलासफी, खण्ड-2, पृ० - 621

2 इण्डियन फिलासफी, खण्ड-2, पृ० - 621-22

3 एन आउटलाइन ऑफ दि फिलासफी ऑफ उपनिषद्स, पृ० - 61

विरोचन का उपाख्यान प्रस्तुत किया है । विरोचन ने प्रजापति के आत्म-विषयक उपदेश को गलत रूप मे समझ लिया और उसके परिणाम स्वरूप वह घोर अहकारमय सुखवादी बन गया ।[1]

आचार्य शकर के दर्शन पर लगाए गये इन आरोपों के उत्तर मे कहा जा सकता है कि शकर के पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टिकोणों को परस्पर मिला दिया गया है । पारमार्थिक दृष्टि से मानव, नि सन्देह ब्रह्म से तादात्म्य रखता है, किन्तु यह तादात्म्य उसके अनुभव मे नहीं आता । यद्यपि मानव, वस्तुत अनन्त है और वह जाने - अनजाने अपनी अनन्तता की खोज भी किया करता है, किन्तु वह अपने को ससीम ही समझता है । मनुष्य की ससीमता के तथ्य को शकर ने इतनी अच्छी तरह स्वीकार किया है कि उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए प्रस्तावना मे ही इसका उल्लेख किया है । शकर ने यह कभी नहीं कहा कि अनुभव परक या ससीम स्व ही असीम ब्रह्म है । इसके विपरीत, उन्होंने तो स्पष्ट रूप मे जीव या वैयक्तिक स्व को निरपेक्ष ब्रह्म से भिन्न बताया है।[2] जब तक मनुष्य अपने को ससीम समझता है तब तक ससीमता के सारे दोष उसे दुर्भाग्य से भोगने पडेगे । किसी व्यक्ति के पास भले ही अमूल्य धनराशि जमीन मे गडी - पडी हो किन्तु यदि वह उसे भूल गया है, तो उसे उस धन से कोई लाभ नहीं है । वह धन उसका तभी है जब वह उसे जानता है । यदि कोई

---

1 ऐन आउट लाइन ऑफ दि फिलासफी ऑफ दि उपनिषद्स पृ0 - 6।

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 । 22 (जीवादधिक ब्रह्म)

राजा स्वप्न मे देखे कि वह सिहासन से उतार दिया गया है और वह बिल्कुल अकिंचन हो गया है तो जब तक वह स्वप्न की स्थिति मे रहेगा, उसका सारा राज्य कोष नहीं के बराबर है । यदि वह अपनी सम्पत्ति का उपभोग करना चाहता है तो उसे जागना पडेगा । इसी प्रकार व्यक्ति भले ही तत्वत ब्रह्म ही हो किन्तु जब तक उसे उसकी स्पष्ट और सन्देह रहित प्रतीति नहीं होती, उसके दुख दूर न होंगे । इसी स्थिति मे उसे नैतिकता की आवश्यकता होती है, क्योंकि शकर का मत है कि जब तक मनुष्य पूर्णत सयमित और नैतिक जीवन न व्यतीत करे, वह ब्रह्म से तादात्म्य ज्ञान का भाव प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता है । अत डॉ0 राधाकृष्णन् के शब्दों मे- "मनुष्य का ब्रह्म से तत्वमीमासीय तादात्म्य व्यावहारिक स्तर पर नैतिक भेद करने मे किसी प्रकार बाधक नहीं होता है ।[1] व्यावहारिक दृष्टि से पाप और पुण्य, गुण एव दोष उतने ही यथार्थ है जितनी कोई अन्य वस्तु । जब तक व्यक्ति मे द्वैतभाव है, वह कर्त्तव्य के बन्धन मे बधा है । प्रो0 मैक्समूलर ने स्वीकार किया है कि- "वेदान्त दर्शन मनुष्य को उपयोगी बनने के लिए व्यापक क्षेत्र प्रदान करता है और इस नश्वर जीवन मे उसे सुदृढ नियमों मे बाधे रखता है ।[2]

यद्यपि उपनिषद् कालीन ऋषियों की भाति शकर भी जगत् को सत्य नहीं मानते, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे उसे पूर्णत असत् के

---

1 इण्डियन फिलासफी, खण्ड - 2, पृ0 - 621

2 थ्री लेक्चर्स आन वेदान्त फिलासफी, पृ0 - 261

रूप मे स्वीकार करते है अथवा किसी व्यक्ति की केवल मानसिक रचना समझते है । दृश्य-जगत् न तो बन्ध्या-पुत्र की तरह पूर्णत असत् है और न ही स्वप्न या भ्रम की तरह व्यक्तिगत मानसिक रचना है, वरन् वह इन सबसे भिन्न प्रकार का है । इस दृश्य-जगत् मे शुभ या अशुभ उतने ही वास्तविक है जितनी कोई वस्तु । शकर ने मनुष्य के नैतिक आचरण के शुभ और पापों के अशुभ परिणाम पर कभी सदेह नहीं किया है । व्यावहारिक दृष्टि से उनके लिए गुण और दोष सभी सत्य है । जो व्यक्ति अशुभ कर्म और विचार नहीं त्याग सकता वह ब्रह्म ज्ञान पाने का अधिकारी नहीं है ।[1] नैतिक तपके द्वारा ही मनुष्य ब्रह्म की ओर बढ सकता है ।[2] ब्रह्म की ओर जाने वाला मार्ग सत्य से निर्मित है ।[3] यद्यपि ब्रह्म ही सबका अन्तिम स्रोत, आधार और आश्रय है किन्तु हमे शुभ और अशुभ का भेद उसी प्रकार करना पडेगा जैसे हम ससार की अन्य वस्तुओं की अच्छाई-बुराई का भेद करते है । "यद्यपि प्रकाश एक है किन्तु हम मृत शरीर को जलाने वाली आग को त्याग कर अन्य आग ग्रहण करते है । सूर्य एक ही है किन्तु उसका प्रकाश जब अशुभ स्थल पर पडता है तो हम उसे त्याग देते है तथा अन्य स्थल मे पडे प्रकाश का उपयोग करते है ।[4] इस प्रकार हम देखते है कि शाकर-

---

1 केन उपनिषद् 2 33 और उस पर शाकर भाष्य

2 शाकर भाष्य प्रश्नोपनिषद् । 2

3 मुण्डक उपनिषद् 3 । 5, प्रश्नोपनिषद् । ।6 और उस पर शाकर भाष्य

4 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 3 48 (थीबो के अनुवाद के आधार पर)

दर्शन की नैतिक आलोचना ब्रह्म की एकता के प्रत्यय पर आधारित हो अथवा ससार की असारता पर, वह दोनों प्रकार से भ्रान्तिमूलक है ।

पुनश्च, यदि शाकर-दर्शन के विषय मे किसी को गलतफहमी हो जाय तो किसका दोष है ? सभी सत्यों का ज्ञान सब लोगों को नही हो पाता है। सत्य का यथार्थ, ज्ञान, साधक की क्षमता तथा उसके लिए अपेक्षित गुणों पर अवलम्बित होता है । परम सत्य की तो बात ही क्या, आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य का ज्ञान उसी को प्राप्त होता है, जिसकी बुद्धि बहुत सूक्ष्म है तथा मन एव हृदय बहुत निर्मल है, गणित एव विज्ञान के सत्य भी सभी लोगों को समान रूप मे समझ मे नहीं आते है । जब कोई सत्य, सही रूप मे पूर्णत समझ मे नहीं आता है तो नि सन्देह उसके गलत ढग से प्रयोग किए जाने की सभावना रहती है ।

ध्यातव्य है कि ब्रह्मज्ञान झूठा और सतही होने पर ही दुरूपयोग का विषय बन सकता है, किन्तु विज्ञान की स्थिति ठीक इसके विपरीत है । विज्ञान का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर ही उसका सबसे अधिक दुरूपयोग हो सकता है । विज्ञान के इस युग मे रहने वाले हम सभी लोग भलीभांति जानते है कि दुष्ट व्यक्तियों के हाथ मे पडकर ही नहीं वरन् तथाकथित महान राष्ट्रों के हाथ से भी विज्ञान कितना अनैतिक और दूषित कार्य कर सकता है, किन्तु ब्रह्म-ज्ञान से ऐसी सभावना कदापि नहीं है । ब्रह्मज्ञान का दुरूपयोग तभी हो सकता है जब वह सही ज्ञान न हो । विज्ञान तो कुत्सित और अनपेक्षित उद्देश्य के लिए

तभी प्रयुक्त किया जा सकता है, जब उसका सही ज्ञान प्राप्त हो । किन्तु यथार्थ बात तो यह है कि इसमे स्वय ज्ञान का कोई दोष नहीं है । ज्ञान अपने वास्तविक स्वरूप मे बहुत मूल्यवान है, इस तथ्य पर कोई दो मत नहीं हो सकते । भ्रष्ट लोगों के हाथ मे पडकर वह दूषित होता है । किन्तु सौभाग्य से ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान भ्रष्ट लोगों के हाथ मे कभी पड नहीं सकता है । विरोचन ने जिस ज्ञान का दुरूपयोग किया, वह ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान था ही नहीं । जहाँ तक ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान का प्रश्न है, उसके दुरूपयोग के खतरे की कोई सभावना नहीं है। जो व्यक्ति सबकी आत्मा से अपनी आत्मा का तादात्म्य मानता हो, वह किसी के हित मे बाधक कैसे बन सकता है ? जो व्यक्ति सब वस्तुओं को अपनी आत्मा मे तथा अपनी आत्मा को सभी वस्तुओं मे देखता है, वह किसी से दुर्भावना कैसे रख सकता है ।[1] प्रो0 मैक्समूलर ने भी कहा है कि "जिनका मन वेदान्त दर्शन जैसी दिव्य बातों मे रम गया है, वे ससार के धन-जन जैसे साधारण प्रलोभनों के शिकार नहीं हो सकते ।[2]

सच्चा ब्रह्मज्ञानी दूषित और निषिद्ध कर्मो मे प्रवृत्त नहीं हो सकता। उसके लिए कोई कर्त्तव्य न रह जाने का अर्थ यह नहीं कि उसे मनमानी करने की छूट मिल जाती है । वस्तुत झूठे अहकार के कारण मनुष्य अशुभ कर्मो मे

---

1 ईशोपनिषद्, पृ0 - 6

2 थ्री लेक्चर्स आन वेदान्त फिलासफी, पृ0 - 170

प्रवृत्त होता है । पूर्ण ज्ञानी मे ऐसा कोई अहकार नहीं रह जाता, अत उसके द्वारा मनमानी करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।[1]

ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति की दृष्टि मे दृश्य जगत् ओझल नहीं हो जाता है । वह उसे देखता है किन्तु उसका दृष्टिकोण बदल जाता है । सासारिक चमक-दमक और यहाँ के भौतिक सुख उसे भ्रम मे डालकर आकर्षित नहीं कर सकते है । कारण स्पष्ट है कि उसके पास पूर्ण सुख की वह राशि उपलब्ध है, जिसमे कभी - कभी नहीं आती है । उसकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसे कोई व्यक्ति मृग-मरीचिका का रहस्य जान लेने पर उसके जल से अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न नहीं करता, भले ही वह उसकी आखों मे पहले जैसी दिखायी देती रहे । वह किसी पद या शक्ति की इच्छा नहीं रखता है । कोई वस्तु कितनी ही बडी मूल्यवान और सुन्दर हो, उसके लिए वह अनैतिक कार्य न करेगा क्योंकि उनके लिए उसे इच्छा ही नहीं है । किन्तु उसका आचरण नैतिक अवश्य होगा क्योंकि वह उसका स्वभाव बन गया है और स्वभाव ही प्रकृति है । ब्रह्मज्ञानी साधारण मनुष्य की तरह चलता और बोलता है, किन्तु उसके विचार औपनिषदिक ऋषियों जैसे होते है । अन्य लोगों तथा वस्तुओं से उसका व्यवहार वैसा ही होता है जैसा कि किसी नैतिक सद्गुणी का । सदाचारी जानता है कि साधारण लोगों का दृष्टिकोण ससार और उसकी वस्तुओं के प्रति त्रुटिपूर्ण होता

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 3 48

है किन्तु वह उनसे वैसा ही व्यवहार रखता है जैसा कि नैतिकता एव सदाचरण को अपनाने के पूर्व रखता था । उसके नए ज्ञान एव आचरण से सामाजिक क्षेत्र मे कोई विपरीत प्रभाव नहीं दिखाई देता ।

अतएव स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञानी जीवन के किसी भी स्तर पर नैतिक नियमों के दुरूपयोग का दोषी नहीं हो सकता है । वह ज्ञान का जिज्ञासु रहने पर और उसे प्राप्त कर लेने पर दोनों स्थितियों मे उनका पालन करता है । ज्ञान की साधना के समय तो नैतिक नियमों का इसलिए पालन करना पडता है कि वह जानता है कि वैसा किए बिना उसे सफलता नही मिल सकती । लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर भी वह उनका पालन इसलिए करता है कि एक तो उनके विपरीत आचरण करने की इच्छा नहीं रह जाती है और दूसरे उसका सदाचारी स्वभाव इतना दृढ हो जाता है कि वह स्वभावत सन्मार्ग पर ही चलता है । वह निषिद्ध कर्मों मे प्रवृत्त ही नहीं होता क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के पूर्व ही उन्हे छोड चुका था । अधेरे मे कोई भले ही कुए मे गिर जाय या काटों मे उलझ जाय किन्तु सूये के प्रचण्ड रूप से उदित हो जाने पर कुए मे गिरने या काटों मे उलझने का कोई कारण नहीं रह जाता है ।[1] इसके अतिरिक्त, आत्म-साक्षात्कार करने पर सबकी आत्मा के साथ अपनी आत्मा का तादात्म्य अनुभव होने लगता है, इसलिए उसके पडोसी ही नहीं, बल्कि बहुत दूरवर्ती लोग भी उसे आत्म-स्वरूप प्रतीत होते

---

1 शाकर भाष्य छान्दोग्य उपनिषद् 2 23 3।

है । फिर भला वह किसी का अहित कैसे कर सकता है ? या किसी के प्रति अनैतिक आचरण की इच्छा कैसे रख सकता है ? प्रो0 मैक्समूलर का विचार है कि- " जिसके साथ हमारे समान हित की भावना हो तथा इससे भी अधिक बढकर मनुष्य जाति के एकत्व मे विश्वास हो तो हम स्वभावत दूसरे के अधिकारों का हनन न कर सकेगे । ऐसी स्थिति मे अनैतिक आचरण का प्रश्न ही नहीं उठता ।"

यद्यपि यह सत्य है कि आचार्य शकर भी श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदों की भाति ही पूर्ण ज्ञानी के लिए कुछ कर्म करना आवश्यक नहीं मानते और उसे सभी पापों से मुक्त बताते है, किन्तु फिर भी इसका यह अर्थ नही है कि वे उसे स्वेच्छा या मनमानी करने की छूट दे देते है । इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि जीवन का सर्वोच्च आदर्श प्राप्त कर लेने पर इस लोक या परलोक मे कोई ऐसी वस्तु नहीं रह जाती है जिसे प्राप्त करने की इच्छा उसके मन मे उठ सके । वह जो कुछ करता है, वह पूर्णत अनासक्त भाव से करता है । किन्तु यह सुनिश्चित है कि वह कुछ भी अनैतिक कार्य नहीं करता क्योंकि उसमे अनैतिक कार्य करने की प्रवृत्ति ही नहीं रह जाती है । वह शक्ति, पद, सम्पत्ति अथवा सन्तान जैसे किसी व्यक्तिगत लाभ की इच्छा नहीं रखता है ।[1] फिर वह

---

1 वृहदारण्यकोपनिषद् 4 4 22

किस इच्छा और किसकी कामना से कष्ट उठायेगा ।[1] इसका अर्थ यह भी नहीं कि वह कुछ करेगा ही नहीं । बिना कर्म किए तो कोई रह ही नहीं सकता ।[2] अत ब्रह्मज्ञानी यदि जीवित रहता है तो वह कर्म करता ही है । किन्तु उसके कार्य सदैव सबके कल्याण के लिए स्वभावत होते है ।[3] इस प्रकार नैतिक आचरण करना तो उसका स्वभाव ही बन जाता है । वह जाने अनजाने अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करता रहता है । वह किसी कार्य की आवश्यकता या उत्तरदायित्व समझे बिना भी नैतिक आचरण करता रहता है ।[4] हम सामान्य जनों के लिए उचित - अनुचित के भेद का ज्ञान भले ही उचित कार्य करने के लिए पर्याप्त न हो किन्तु ब्रह्म-वेत्ता के लिए सुकरात का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि- "सद्गुण ही ज्ञान है ।" वह अपने पूरे जीवन सदाचारी रहता है और सिद्धावस्था मे भी नैतिक कार्य ही करता है । नैतिकता तो ब्रह्मवाद की आत्मा ही है । मैक्समूलर के शब्दों मे हम इसके प्रारम्भ से लेकर अन्त तक नैतिकता ही नैतिकता पाते हैं ।[5]

10 शकर के नैतिक दर्शन की व्यापकता -

आचार्य शकर का नैतिक-दर्शन पर्याप्त व्यापक है । यद्यपि इसे तर्क बुद्धिवाद, उपयोगितावाद, सुखवाद अथवा मूल्य-सिद्धान्त जैसे किसी आधुनिक

---

1 वृहदारण्यकोपनिषद् 4 4 12

2 भगवद्गीता, 3 5

3 भगवद्गीता 3 20

4 भगवद्गीता 3 22 और उस पर शाकर भाष्य

5 थ्री लेक्चर्स आन वेदान्त फिलासफी, पृ0 - 170

पाश्चात्य सिद्धान्त के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता, किन्तु इन सभी सिद्धान्तों की कुछ न कुछ विशेषताए उनके विचारों मे अवश्यमेव उपलब्ध है ।

तर्कबुद्धिवाद के प्रमुख दार्शनिक काण्ट के मतानुसार किसी व्यक्ति या कार्य की सच्ची नैतिकता उसकी बाह्य उपलब्धियों के बजाय, व्यक्ति के सकल्प के सही दिशा-निर्देशन मे सन्निहित है । काण्ट के विचार से - ' शुभसकल्प ही ऐसी मणि है जो अपने ही प्रकाश से चमकती है ' । अत नैतिकता के लिए वह ' कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए ' ही निर्धारित करते है । हमारे विचार से शकर भी नैतिक-सिद्धान्त के रूप मे ' कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए ' मानते है । आचार्य शकर गीता के ' अनासक्त योग ' मे विश्वास रखते है । इसका स्पष्ट अर्थ है कि लोग बिना किसी आसक्ति के अपना कर्त्तव्य कर्म करे । इस सिद्धान्त के अनुसार हमे अपने कर्मों के फल की ओर नहीं देखना है । हमे केवल उनको अपना कर्त्तव्य समझकर करते रहना है ।[1] इसमे सन्देह नहीं कि काण्ट का ' कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य ' का नैतिक सिद्धान्त इस आधार पर आलोचना का विषय बनता है कि वह अमूर्त और अपरिमेय है[2], किन्तु यह एक अलग बात है । काण्ट और शकर के विचार साम्य से उसका कोई प्रयोजन नहीं । जहाँ तक अनासक्त भाव से कर्म करने का प्रश्न है, शकर और काण्ट दोनों उसे

---

1 भगवद्गीता 2 47 49, 5 11 12 और उसपर शाकर भाष्य

2 ए मैनुअल ऑफ इथिक्स, पृ0 - 154

स्वीकार करते है । दोनों ही इस बात मे विश्वास रखते है कि इस प्रकार से किए गये कर्मों का अन्तिम परिणाम शुभ होता है ।[1] दोनों की दृष्टि मे ससार की रचना इस प्रकार हुई है कि शुभ और अशुभ कर्मों का पुरस्कार तथा दण्ड देर-सबेर अवश्य प्राप्त होता है । उन कर्मो को जाने या अनजाने किसी प्रकार किया गया हो, कोई अन्तर नहीं पडता है । दोनों विचारकों की दृष्टि मे ईश्वर मनुष्य को कर्मों के अनुसार फल देने की व्यवस्था करता है । शरीर छूटने के पूर्व यदि उन कर्मों का फल इस जीवन मे नहीं प्राप्त होता है तो भावी जीवन मे अवश्य मिलेगा । इसके अतिरिक्त जीव की स्वतत्रता और आत्मा की अमरता नैतिकता की मूल मान्यता के रूप मे दोनों को ही मान्य है । नि सन्देह, शकर के विपरीत काण्ट ने आत्मा की अनादिता स्वीकार नहीं की है । आत्मा की अमरता की तरह आत्मा का अनादि होना भी नैतिकता की आवश्यक शर्त है । किन्तु इससे शकर की मान्यताओं पर कोई फर्क नहीं पडता है ।

काण्ट की यह नैतिक उक्ति कि- "अपने आप मे या किसी दूसरे व्यक्ति मे मानवता को कभी साधन बनाने के बजाय सदा साध्य समझते हुए कार्य करो", शकर को भी यथावत् मान्य है । यद्यपि शकर ने, काण्ट की इस नैतिक उक्ति की भांति किसी उक्ति की रचना नहीं की है, किन्तु उन्होंने अपने आप के प्रति तथा अन्य लोगों के प्रति जिन कर्त्तव्यों को करने का निर्देश दिया है,

---

1 शाकर भाष्य भगवद्गीता, 6 40

उसमे यह भाव स्पष्टत निहित है । अपने जीवन का सर्वोच्च आदर्श, आत्म-साक्षात्कार मानकर शकर ने अपने व्यक्तित्व मे मानवता को साध्य बनाया है और दूसरे लोगों के सुख-दुख को अपने जैसा सुख-दुख मानकर उन्होंने दूसरों की मानवता को भी साध्य माना है ।[1] वस्तुत किसी व्यक्ति का आत्म-साक्षात्कार अथवा उसकी आत्मा की पूर्णता किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा सभव नहीं है । उसके लिए उसे स्वय सत्यनिष्ठा के साथ प्रयत्न करना होगा । उसे न तो किसी मूल्य पर क्रय किया जा सकता है और न कोई उदार व्यक्ति भेंट स्वरूप उसे प्रदान ही कर सकता है । यदि पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न कोई स्वयमेव नहीं करता, तो दूसरा कोई व्यक्ति उसके लिए कितना ही प्रयत्न करे, उसका कोई लाभ नहीं होगा । आत्म-पूर्णता, वस्तुत आत्मपूर्णता ही है । अपनी पूर्णता अपने आप ही प्राप्त की जाती है । दूसरे लोग केवल इतना कर सकते है कि वे हमारे लिए सुख तथा कल्याण की अनुकूल दिशा, दशा या परिस्थिति उत्पन्न कर दे । अतएव शकर का यह मत पूर्णत उचित है कि आत्म-साक्षात्कार करना मनुष्य का अपना लक्ष्य है और दूसरे लोगों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझना उचित है। इसका तात्पर्य काण्ट की इस दूसरी नैतिक उक्ति के समान है कि- "अपने को पूर्ण करने का सदा प्रयत्न करो और अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करके दूसरों को सुख सुलभ करों, क्योंकि तुम दूसरों को पूर्ण नहीं बना सकते ।" स्पष्ट है कि शकर एव काण्ट के नैतिक विचार प्राय समतुल्य है, किन्तु हमे यह भूल कदापि

---

1 शाकर भाष्य भगवद्गीता, 4 32

नहीं करनी चाहिए कि काण्ट का आत्म-साक्षात्कार विषयक दृष्टिकोण तथा शकर का आत्म-साक्षात्कार विषयक मत दोनों एक समान है । काण्ट को शकर के सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का ज्ञान नहीं था । इसके अतिरिक्त काण्ट के सिद्धान्तों मे कठोरता अधिक थी । उसके लिए नीतिशास्त्र मे भावना का कोई स्थान नहीं था, जब कि शकर के नैतिक - दर्शन के विषय मे यह नहीं कहा जा सकता। प्रो0 मित्रा के शब्दों मे- "काण्ट की तरह अनुभव परक जीवन के प्रति शकर का दृष्टिकोण बहुत कम निषेधात्मक रहा है ।"[1]

पाश्चात्य सुखवादी नीतिशास्त्रियों के अनुसार मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य सुख है । नि सन्देह इसे शकर की नैतिकता के विपरीत कहा जा सकता है, क्योंकि उनके अनुसार सासारिक सुख की इच्छा न केवल मोक्ष या ब्रह्मज्ञान जैसे हमारे सर्वोच्च आदर्श की प्राप्ति मे बाधक है, बल्कि उसके कारण हम साधारण और विशेष धर्मों का पालन भी भलीभाति नहीं कर पाते है । स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि- "सुख को अपना लक्ष्य समझना भूल है, ससार मे सारे दुखों का कारण यही है कि लोग अज्ञानतावश सुख को ही परम लक्ष्य मानते है ।"[2] आचार्य शकर काण्ट के ' कत्तेव्य के लिए कर्त्तव्य ' को मानते है । यह मत सुखवादी सिद्धान्त के विपरीत है । सुखवाद मे मनुष्य के कर्म का मूल्य उसकी भावना से नहीं आका जाता, बल्कि उसके फलस्वरूप जो सुख मिलता है, उसी से समझा

---

1 दि इथिक्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ0 - 316

2 कर्मयोग, पृ0 - 1

जाता है । इन सब भिन्नताओं के होते हुए भी शकर के नैतिक दर्शन तथा सुखवाद के बीच कुछ साम्य है । सर्वप्रथम, ब्रह्म जिसका साक्षात्कार शकर के अनुसार मानव जीवन का सर्वोच्च आदर्श है, केवल चित् स्वरूप ही नहीं है, वरन् आनन्द स्वरूप भी है । इसमे सदेह नहीं कि यह आनन्द शुद्ध तथा शाश्वत होने के कारण क्षणिक वस्तुओं से प्राप्त होने वाले अशुद्ध और क्षणभगुर सुख से बिल्कुल भिन्न है । फिर भी इसे इन्द्रियातीत, विलक्षण और शाश्वत सुख कहा जा सकता है । इस दृष्टि से यह सुख हमारे समस्त क्षणिक सुखों से गुण और मात्रा मे भिन्न है । सुखों मे गुण एव मात्रा का भेद सुखवादियों ने स्वय स्वीकार किया है । अत यदि हम ब्रह्म के आनन्द को इस अर्थ मे लें तो सुखवादियों का यह सिद्धान्त कि हमारे जीवन का चरम लक्ष्य सुख प्राप्त करना है, शकर की नैतिकता मे भी विद्यमान है, क्योंकि वे ब्रह्म की प्राप्ति या मुक्ति मे सब दुखों एव कष्टों का पर्यवसान और निरतिशय सुख की अनुभूति मानते है । वस्तुत ' आनन्द ' और ' सुख ' शब्दों का प्रयोग शकर तथा उनके सभी अनुयायियों ने सासारिक सुख और ब्रह्मानन्द के लिए प्रयोग किए है ।[1] पहले को वे सतिशय सुख तथा दूसरे को निरतिशय सुख कहते है । सातिशय सुख क्षणिक र निम्न स्तर का है जब कि निरतिशय सुख शाश्वत और सर्वोत्कृष्ट है ।[2] शकर और सुखवादियों के नैतिक आदर्श मे अन्तर यही आता है कि शकर मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य निरतिशय सुख मानते

---

1 शाकर भाष्य तैत्तिरीय उपनिषद, 2 7

2 वेदान्त परिभाषा, 8 (सुख च द्विविध)

है और सुखवादी सातिशय सुख से आगे नहीं बढते । दूसरे शब्दों मे शकर के सुख को हम ' अनुभवातीत सुख ' कह सकते है और साधारण सुखवाद से उसका भेद करते हुए उसे ' अनुभव परक सुखवाद ' कह सकते है ।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार हम सदैव सुख की ही इच्छा रखते है और इसके कारण ही मनोवैज्ञानिक सुखवाद की घोर आलोचना भी की जाती है । इसके अतिरिक्त नैतिक सुखवाद से भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद का व्याघात है, फिर भी इसमे एक सत्यता है जिसे स्वीकार करते हुए रैशडल ने लिखा है कि- "जिस वस्तु को हम मूल्य देते है, उसमे सुख का तत्व अवश्य रहता है।"[1] मेकेन्जी ने भी कहा है कि- "सम्भवत यह सत्य है कि जिस वस्तु को हम लक्ष्य बनाते है, उसे सुखद अवश्य समझते है ।"[2] हम भले ही सदा अपना मानसिक सुख न खोजते रहते हों, किन्तु इतना निश्चित है कि हम जो कुछ चाहते है उसमे सुख अवश्य समझते है । दुख एव क्लेश कोई नहीं चाहता है । अत शकर कहते है कि हम उचित-अनुचित रीति से अपने सभी क्रिया-कलापों द्वारा अपने खोये हुए ब्रह्मानन्द को ही खोजना चाहते है । हमारी इच्छित वस्तु चाहे कोई मूल्यवान या उपयोगी वस्तु हो अथवा अपनी ही सुखद मानसिक स्थिति हो, हम उसे सदा सुख का स्रोत समझकर ही पाना चाहते है और जब हम अपनी इच्छित वस्तु पाने मे सफल हो जाते है, तो हम सुख का अनुभव करते है । यह सुख

---

1 दि थ्योरी ऑफ गुड एण्ड ईविल, खण्ड - 2, पृ0 - 38

2 ए मैनुअल ऑफ इथिक्स, पृ0 - 69

सदा ब्रह्मानन्द ही होता है, जो सीमित एव प्रच्छन्न रूप मे प्रकट होता है ।[1]

नैतिक सुखवाद, नि सन्देह मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुकूल नहीं है, क्योंकि यदि हम सदा सुख ही चाहते है तो यह कहना व्यर्थ है कि हमे सुख की खोज करनी चाहिए । किन्तु शकर के अद्वितीय सुखवाद पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता है । कारण यह है कि हम ससार की जिस किसी वस्तु को सुखद समझकर चाहते है या पाने का प्रयत्न करते है, उसमे ब्रह्म का सुख स्पष्टत और ठीक-ठीक रूप मे समझते हुए उसे नही पाना चाहते है । इसके विपरीत स्थिति यह है कि इस प्रकार के सुख मनुष्य के वास्तविक हित मे बाधक होते है । सामाजिक सुखों मे ब्रह्म का सुख खोजना, शकर के अनुसार उसे पाना नहीं वरन् खोना है । अंधेरे मे भटकने से कोई लाभ नहीं है । ब्रह्म का सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब हम सचेत और सावधान होकर उसे वहीं खोजें, जहाँ उसकी खोज होनी चाहिए । अत यह कहना कि सासारिक वस्तुओं मे सुख की खोज करने मे हम वस्तुत ब्रह्म का सुख ही खोजते है इस बात से कोई विरोध नहीं रखता कि हमे ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त करना चाहिए या अपने सत् स्वरूप की खोज करनी चाहिए । छाया को पकडने के लिए शक्ति नष्ट करने वाले व्यक्ति को यह सलाह देना उचित ही है कि वह मूल वस्तु को पकडे ।

---

1 शाकर भाष्य वृहदारण्यक उपनिषद् 4 3 22, शाकर भाष्य तैत्तिरीय उपनिषद् 2 7

जिस प्रकार शकर का नैतिक दर्शन, सुखवाद से भिन्न होते हुए भी उसकी कुछ समान विशेषताए रखता है, उसी प्रकार इसमे पूर्णतावाद कहलाने वाली नैतिकता के भी कुछ लक्षण दिखायी देते है । शकर के ब्रह्मवाद का अध्येता जब प्रमुख पूर्णतावादी रचनाओं को पढता है तो उसे सर्वप्रथम यह समानता दिखायी देती है कि दोनों सिद्धान्तों मे मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार माना गया है । दोनों सिद्धान्तों के प्रतिपादक कहते है कि हमे आत्मा के सत् स्वरूप को पहचानना चाहिए । ग्रीन का मत है कि "मनुष्य की प्रकृति का मूल तत्व उसके अन्दर विद्यमान आत्मा है, और नैतिक जीवन का महत्व इसी बात मे है कि हम आत्मतत्व को अधिकाधिक स्पष्ट तथा उद्घाटित करने का प्रयत्न करे, हम अपनी तर्कबुद्धि, आत्म चेतना या आध्यात्मिक तत्व को अत्यधिक व्यक्त करे ।"[1] ' आत्मत्याग के द्वारा आत्म-लाभ प्राप्त करना ' पूर्णतावाद की प्रमुख उक्ति है । ब्रैडले के शब्दों मे- "इसका तात्पर्य सकल्प और वस्तु का तादात्म्य है । इसके लिए हमे अपने व्यक्तिगत अस्तित्व का कुछ निषेध करना पडता है। हमारा एक निजी व्यक्तित्व होता है । वह दूसरों से भिन्न और अपने मे केन्द्रित रहता है । उसमे अपने-पराये की भावना रहती है । आत्म-त्याग का अर्थ है कि हम सचेत होकर इस व्यक्तित्व को पूर्णत या अशत अपने उच्च अस्तित्व के लिए समर्पित कर दे । यही सकल्प का आदर्श से तादात्म्य है, आत्म-साक्षात्कार है ।"[2] अत उनके अनुसार ' अपने को जानो ' का अर्थ है अपने मे पूर्ण का

---

1 मैकेजी, ए मैनुअल ऑफ इथिक्स, पृ0 - 254-255

2 एथिकल स्टडीज, पृ0 - 309

अनुभव करके अपनी आत्म-चेतना को अनन्त का अग समझो और उस रूप मे अपने को जाना ।[1] इसी प्रकार हेगेल ने ' जीने के लिए मरो ' इस उक्ति की नई व्याख्या की है । मध्यकालीन ईसाई इसका अर्थ, यह समझते थे कि आत्मा की रक्षा के लिए शरीर की आहुति दे देनी चाहिए । किन्तु हेगल का मत है कि सीमित तथा सकुचित अह नष्ट होना चाहिए और आध्यात्मिक जगत् मे ऊपर उठकर व्यापक और उदार जीवन अपनाना चाहिए ।[2] इस प्रकार हेगल ने भी आत्मत्याग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने पर बल दिया है और उसका नैतिक महत्व माना है । शकर के नैतिक-दर्शन के अन्तर्गत भी यह सब स्वीकार किया जा सकता है । शकर अपने सत् स्वरूप की प्राप्ति को जीवन का सर्वोच्च आदर्श, मानते है और अपने सीमित स्वार्थो को त्यागकर सबके कल्याण की कामना करने मे नैतिकता का पालन स्वीकार करते है । उनके साधक और ब्रह्मज्ञानी दोनों ही सभी लोगों को समदृष्टि से देखते है। वे न किसी से घृणा करते है और न किसी को कष्ट पहुँचाते है ।[3] वस्तुत अपने सत् स्वरूप को जानने के लिए इस प्रकार का आत्म-त्याग करना भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों मे समान रूप से मान्य है । उसमे जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए भले ही भक्ति-मार्ग, का प्रतिपादन किया गया हो या ज्ञान-मार्ग का, इससे कोई अन्तर नहीं पडता है । सज्जन पुरूषों का उत्कर्ष और वैभव अन्य

---

1 डॉ0 सिन्हा, एथिक्स, पृ0 - 131-32

2 डॉ0 सिन्हा, एथिक्स, पृष्ठ - 132

3 शाकर भाष्य भगवद्गीता, 6 22, शाकर भाष्य ईशोपनिषद्, 6

लागों के कल्याणार्थ होता है- ' परोप्‌काराय सता विभूतय ' । शकर तो इस बात का मानत है कि वैयक्तिक स्वार्थ को, कुल के लिए, कुल के स्वार्थ को ग्राम के लिए, ग्राम का स्वार्थ देश के लिए तथा देश एव समस्त ससार का स्वार्थ सर्वव्यापी आत्मा के लिए त्याग देना चाहिए । आत्मा तो उन सबका सत् स्वरूप है जो पृथ्वी तथा इससे बाहर अन्य लोकों तक मे वास करता है -

त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत् ।।

इस प्रकार हर स्तर पर सकुचित अह का परित्याग कर क्रमश ऊपर उठने की बात कही गई है । यह सिद्धान्त ग्रीन के उस सिद्धान्त से मिलता है जिसमे प्रकृति मे विश्वव्यापी आध्यात्मिक तत्व के साक्षात्कार की बात कही गई है । किन्तु हमे शकर के सर्वोच्च स्व और पश्चिम के पूर्णतावादी हेगल, ग्रीन ब्रेडले आदि के सर्वोच्च स्व मे विद्यमान महत्वपूर्ण भेद से आखें न बन्दकर लेनी चाहिए । शकर का सर्वोच्च स्व वह आत्मा है, जिसमे कोई द्वैत या भेद नहीं है । पूर्णतावादियों का सर्वोच्च स्व अधिक सगठित समाज की एक व्यवस्था है, जिसमे वैयक्तिक चेतना रखने वाले अनेक सदस्य सहयोग की भावना से रहते है । अत प्रो0 मित्रा के शब्दों मे- "शकर का पूर्णतावाद एक विशेष प्रकार का पूर्णतावाद है जिसे ' अनुभवातीत पूर्णतावाद ' कह सकते है । इसी प्रकार आत्मलाभ की अवधारणा हेगल, काण्ट आदि की आत्म-साक्षात्कार की अवधारणा से भिन्न है ।"[1]

---

1 दि एथिक्स ऑफ हिन्दूज, पृ0 - 314

शकर के नैतिक-दर्शन और नीतिशास्त्र के आधुनिक मूल्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध पर विचार करने से यह कहा जा सकता है कि दोनों ने आन्तरिक एव बाह्य मूल्यों के भेद को स्वीकार किया है और बाह्य की तुलना मे आन्तरिक मूल्यों को अधिक उत्कृष्ट माना है । सत्य, शिव, सुन्दरम् को प्राय सभी लोग आन्तरिक मूल्य मानते है । कुछ लोग प्रेम, स्वतन्त्रता, जीवन तथा ऐसी ही अन्य बातों को भी आन्तरिक मूल्य के अन्तर्गत लेते है । कुछ भी हो, आन्तरिक मूल्य उन वस्तुओं को दिया जाता है जिनका मूल्य किसी दूसरे पर आश्रित न होकर निरूपाधिक होता है और बाह्यमूल्य वाली वस्तुओं का मूल्य किसी दूसरी वस्तु पर आश्रित होता है । वे वस्तुए उपकरण के रूप मे मूल्य ग्रहण करती है । मि0 राइट के शब्दों मे- "आन्तरिक मूल्य की उपयोगिता स्वत होती है, किन्तु उपकरण मूल्य उसके परिणाम के कारण होता है ।"[1] उदाहरणार्थ- प्रसन्नता मे आन्तरिक मूल्य माना जाता है क्योंकि उसमे स्वत कुछ अच्छाई या मूल्य विद्यमान है, किन्तु भोजन और वस्त्र मे यह बात नहीं है । उनका स्वत मूल्य नही है । वे अपने उपयोग के कारण मूल्यवान् है । भोजन से हमारी भूख शान्त होती है और वस्त्रों से हमारे शरीर की रक्षा होती है, हम देखने मे भी अच्छे लगते है ।

आचार्य शकर ने आधुनिक विचारकों की भांति कोई मूल्य का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा किया गया अभ्युदय और नि श्रेयस्

---

1 जनरल इण्ट्रोडक्शन टू एथिक्स, पृ0 - 338

का भेद, मूल्यों के आन्तरिक और बाह्य भेद के समतुल्य माना जा सकता है । हम जिन सासारिक वस्तुओं की आकाक्षा करते है और मूल्य प्रदान करते है, वे अभ्युदय के अन्तर्गत आती है । उनका केवल बाह्य मूल्य समझना असगत न होगा। उनमे से किसी वस्तु का भी स्वत मूल्य नही है । शकर के अनुसार स्वत मूल्यवान केवल एक वस्तु है, जिसकी विचारपूर्ण आकाक्षा की जा सकती है । वह है पूर्णज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण सद् स्वरूप ब्रह्म । उनके ब्रह्म मे सर्वमान्य आन्तरिक मूल्य- सत्य, शिव, सुन्दरम्-अपनी पूर्ण पराकाष्ठा के साथ विद्यमान है । अत इसे नि श्रेयस् कहते है । इसके अतिरिक्त स्वर्ग तक अभ्युदय के अन्तर्गत आते है क्योंकि उनका मूल्य भी सापेक्षिक है ।

*****

अध्याय - 8

शाकर धर्म-दर्शन का तुलनात्मक मूल्याकन

अध्याय - 8

शाकर धर्म-दर्शन का तुलनात्मक मूल्याकन

1 क्या शाकर-दर्शन रहस्यवादी है ?

आचार्य शकर का धर्म-दर्शन रहस्यवाद नहीं है । किन्तु केवल विचार या तर्क के द्वारा सत् का अव्यवहित ज्ञान शकर को मान्य न होने के कारण और साथ ही उसकी अपरोक्षानुभूति की आवश्यकता पर बल देने के कारण लोग कभी-कभी यह समझने लगते है कि शकर रहस्यवादी है ।

प्रो0 एम0एन0 सिरकार ने लिखा है कि - "रहस्यवादी बडा साहसी होता है । वह सत् के विषय मे परम्परागत विधि से विचार करना छोड बैठता है, अपने को विचारों और प्रत्ययों से रिक्त कर लेता है और दैवी अनुग्रह से प्राप्त होने वाले प्रकाश की प्रतीक्षा करने लगता है । वह एकान्त मे जीवन के आश्चर्यजनक रहस्यों को प्राप्त करने के लिए अपने को इन्द्रिय सवेदनाओं से मुक्त कर लेता है और बुद्धि के विचारों को शमित कर देता है ।"[1] अतएव हम कह सकते है कि शुद्ध रहस्यवादी तर्क से कोई प्रयोजन नहीं रखता है । किन्तु यह कहना उचित नहीं है कि शकर एक दक्ष तार्किक है और उनका दर्शन सूक्ष्म तर्कों पर आधारित है ।[2] उनके दार्शनिक विवेचन 'को नि सन्देह एक उच्च स्थान प्राप्त

---

1 हिन्दू मिसेसिज्म, पृ0 - 1

2 प्रो0 राधाकृष्णन इण्डियन फिलासफी, खण्ड - 2, पृ0 - 445

है ।[1] रहस्यवादी अपने विचारों को बुद्धिगम्य बनाने की चिन्ता नहीं करते,[2] किन्तु शकर ने अपना दर्शन अपने विरोधियों और अनुयायियों दोनों के लिए बुद्धिगम्य बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है ।

यह कदापि अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शकर ने ' अनुभव ' अथवा ' अपरोक्षानुभूति ' को ब्रह्म या निरपेक्ष सत् के ज्ञान का एकमात्र असदिग्ध साधन माना है, किन्तु केवल इसीलिए उन्हे रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता है। हमारा यह कहना अनुचित न होगा कि प्रत्यक्ष ही बाह्य ससार के ज्ञान का एकमात्र साधन है, किन्तु यह कहने से हम रहस्यवादी नहीं हो जाते है । नि सन्देह रहस्यवादी वही है जो अपरोक्षानुभूति को सत् के ज्ञान का एकमात्र साधन मानता है । ' आ ' (ए) तर्कवाक्य का परिवर्तन तर्क मे सदैव सत्य नहीं होता है । किसी को रहस्यवादी तभी कहा जा सकता है जब वह परम सत् के ज्ञान के लिए तर्कीय विचार को उपयोगी न माने । केवल अपरोक्षानुभूति के द्वारा परम सत् को ज्ञेय मान लेने से कोई रहस्यवादी नहीं हो जाता है । शकर, विचार और तर्क की उपयोगिता व्यावहारिक जीवन के लिए नहीं बल्कि आत्म-साक्षात्कार या परमतत्व को जानने के लिए भी स्वीकार करते है । अत उन्हे रहस्यवादी कहना उनके प्रति न्याय नहीं होगा ।

यद्यपि आचार्य शकर ने कहीं-कहीं तर्क की अवमानना की है ।

---

1 थीबो का इण्ट्रोडक्शन टू वेदान्त सूत्राज, पृ0 - 15

2 रैशडल, दि थ्योरी ऑफ गुड एण्ड एविल, खण्ड-2, पृ0 - 60

उदाहरणार्थ उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे उद्धृत किया है कि- "हम देखते है कि चतुर लोग बडी मेहनत से जो तर्क प्रस्तुत करते है, उसे उनसे अधिक चतुर लोग खण्डित कर देते है और उनके तर्को को भी आगे चलकर दूसरे लोग दोषपूर्ण सिद्ध कर देते है । अत लोगों के मतभेद के करण तर्क को एकमात्र आधार मानना सभव नहीं प्रतीत होता है ।[1] किन्तु इस प्रकार की उक्तियाँ शकर के दृष्टिकोण का केवल एक ही पक्ष प्रस्तुत करती है । अन्य स्थलों पर हम शकर को तर्क विवेक का समर्थन करते हुए पाते है । उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि "उचित-अनुचित का भेद करने के लिए बुद्धि ही हमारे पास सर्वोत्तम साधन है ।[2] वेद-वाक्य निर्णय या शास्त्रों का सही अर्थ, समझने के लिए भी उन्होंने विमर्श, या तर्कबुद्धि की उपयोगिता और आवश्यकता स्वीकार की है ।[3] इतना ही नहीं उन्होंने यह आवश्यक माना है कि सत् ज्ञान के अन्वेषक को शास्त्रानुकूल तर्क का अभ्यास करना चाहिए ।[4] उनके अनुसार कोई भी विचार तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि वह किसी प्रमाण द्वारा समर्थित हो । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि "क्या चरम अद्वैत का ज्ञान केवल शास्त्रों से हो सकता है अथवा उसे विचार द्वारा भी जाना सकता है ? उन्होंने स्पष्ट कहा है कि- "उसे तर्क के द्वारा भी जाना जा सकता है ।"[5]

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । ।।, शाकर भाष्य कठोपनिषद्, । 2 9

2 शाकर भाष्य कठोपनिषद् 6 ।2, शाकर भाष्य गीता, 2 ।6

3 शांकर भाष्य, वृहदारण्यक, 3 9 7

4 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 4 । ।2

5 शाकर भाष्य माण्डूक्य उपनिषद् कारिका, 3 ।

यदि शकर तर्क का विरोध करते है तो वह केवल तर्क के लिए तर्क का विरोध है, वास्तविक तर्क का नहीं । उनके अनुसार प्रत्यक्ष विरोधी अनुमान प्रमाण नहीं माना जा सकता ।[1] प्रो0 ए0सी0 मुकर्जी के शब्दों मे- "सभी प्रकार के तर्कों की निन्दा नहीं की जाती है, केवल शुष्क तर्क या कुतर्क, जिससे कोई निश्चित निर्णय नहीं निकलता, निन्दनीय है ।"[2] शकर ने स्वस्थ तर्क की उपयोगिता सत्यनिष्ठ सेवक की तरह स्वीकार की है । शकर ने स्वय अपने विपक्षियों की आलोचना करने मे तर्क का प्रयोग किया है और अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए भी उसका सहारा लिया है । इसी से तर्क के प्रति उनकी आस्था का प्रमाण मिल जाता है । यदि शकर को तर्क की उपादेयता मे आस्था न होती तो वे गहन तर्कीय विवेचन न करते । रहस्यवादी व्यक्ति या तो दैवी अथवा आध्यात्मिक प्रकाश की प्रतीक्षा करता है या किसी योगाभ्यास के द्वारा मानव-जीवन के गुप्त रहस्यों को खोजने का प्रयत्न करता है । वह उन लोगों को भी इसी बात का उपदेश देता है जो उसके निकट मार्ग-दर्शन के लिए जाते है । किन्तु शकर का दर्शन इस मान्यता से बिल्कुल भिन्न है । शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जिसने उनकी रचनाओं की सूक्ष्म तर्कणा से प्रभावित न हुआ हो ।

अतएव शकर द्वारा तर्क और विमर्श का व्यापक प्रयोग किए जाने पर भी उन्हें केवल इसलिए रहस्यवादी कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि वे

---

1 शाकर भाष्य वृहदारण्यक, 2 । 20

2 द नेचर ऑफ सेल्फ पृ0 - 346

प्रातिभ ज्ञान या अव्यवहित अनुभव को सब प्रकार के ज्ञान की पराकाष्ठा और आत्म-ज्ञान या ब्रह्म साक्षात्कार के लिए आवश्यक मानते है । प्रातिभ ज्ञान या अव्यवहित अनुभव उनकी दृष्टि मे ज्ञान का एक साधन माना जा सकता है । वह न तो सत् का और न उसके सत्य ज्ञान का ही मापदण्ड माना गया है । किसी ज्ञान की सत्यता उसके वस्तुगत तथ्य की सम्पुष्टि मे निहित होती है अओर किसी वस्तु के सत् का मापदण्ड उसके स्वाश्रय होने पर निर्भर करती है ।[1] सत् तथा सत्य ज्ञान की ऐसी कसौटी मानना किसी रहस्यवादी का कार्य नहीं हो सकता है। वह तो केवल प्रातिभज्ञान को ही सब कुछ मान बैठेगा । विचार या तर्क से उसका कोई प्रयोजन न होगा । प्रातिभ ज्ञान को तर्कसगत या बुद्धिगम्य बनाने का प्रयत्न करते ही वह प्रातिभज्ञान रहस्य न रह जायेगा और वह रहस्यवादी भी रहस्यवादी नहीं जायगा । प्रो0 एम0एन0 सिरकार ने कहा है कि- " रहस्यवाद के तर्क जैसी भी कोई बात हो सकती है, किन्तु रहस्यवादी व्यक्ति को इसका ध्यान नहीं रहता है । रहस्यवाद की तर्कणा रहस्यवादी नहीं हो सकती है ।"[2]

यद्यपि शकर ने परमसत् या ब्रह्म के अव्यवहित ज्ञान के लिए तर्कबुद्धि को अक्षम अवश्य माना है, किन्तु तर्कबुद्धि की प्रकृति को देखते हुए ऐसा कहना उचित नहीं है । जब तर्क से हम नित्य प्रत्यक्ष मे आने वाली ससीम वस्तुओं का

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 2 । ।। और शाकर भाष्य वृहदारण्यक उपनिषद् - 4 3 7

2 हिन्दू मिस्टेसिज्म पृ0 - ।

अव्यवहित ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, तो फिर हम असीम सत् को उसके द्वारा कैसे जान सकते है ? वह तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी परे है ।[1] तर्क का आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही है । आचार्य शकर बडे दृढ स्वर मे यह कहते है कि यदि सैकडों श्रुतियाँ एक साथ मिलकर यह कहे कि अग्नि शीतल है तो भी हम इसे स्वीकार नहीं कर सकते । अतएव स्पष्ट है कि तर्क की महत्ता को शकर अवश्यमेव स्वीकार करते है । हाँ, तर्क को केवल वे ज्ञान-प्राप्ति मे सहायक मात्र मानते है । किन्तु केवल तर्क के द्वारा ही अपरोक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। तर्क के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की सीमा का परिचय कराया गया है । यह बात भी वैसी ही है जैसे यह कहना कि हमे आवाज नहीं दिखायी देती या रग नहीं सुनाई पडते । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दृष्टि और श्रवण का अपने-अपने क्षेत्र मे भी कोई उपयोग नहीं है । अत हम कह सकते है कि शकर को रहस्यवादी कहना तर्कसगत नहीं है, क्योंकि उनके दर्शन मे तर्क को पर्याप्त महत्व दिया गया है, और तार्किक व्यक्ति रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता ।

2. शकर की तुलना रामानुज, निम्बार्क, मध्व एव वल्लभ के विचार से -

उपनिषदों एव शास्त्रों के सिद्धान्तों के प्रकाश मे यदि शकर रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा बल्लभ के विचारों पर यदि दृष्टिपात करे तो हम देखते है

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 2 । ।।

कि शकर इन शास्त्रों के प्रति अधिक सत्यनिष्ठ है । मध्व ने तो पाच प्रकार के भेदों को नित्य मानकर किसी एक परमसत् का प्रतिपादन करना भी आवश्यक नहीं समझा । जीवों का ब्रह्म के साथ तात्विक एकात्मक सम्बन्ध सभी उपनिषदों मे सामान्य रूप से निश्चय ही मान्य है । इसीलिए हम कह सकते है कि शकर का मत रामानुज आदि के मतों की तुलना मे उपनिषदों के अधिक निकट तथा अनुकूल है । मध्व का यह विचार कि ईश्वर ससार का केवल निमित्त कारण है, उपनिषदीय ऋषियों के सिद्धान्तों से ही नहीं वरन् रामानुज आदि अन्य वेदान्तियों के मतों के भी विपरीत है । जीवों के अणु आकार की मान्यता शास्त्रों के एकागी दृष्टिकोण पर अवलम्बित है । तर्कीय दृष्टि से भी यह गलत निर्णय है । सभी उपनिषदों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि ज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र सीधा मार्ग है । शकर भी इस मत को पूर्णत मानते है ।

किन्तु वल्लाभाचार्य आदि ने भक्ति या भगवद् प्रेम को ज्ञान की श्रेणी तक ऊपर उठा दिया है । यह तथ्य स्पष्टत उपनिषदीय मान्यता के विपरीत है । जीव की मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा पर अधिक बल देकर इन वेदान्तियों ने मानव प्रयत्न का मूल्य नगण्य कर दिया है । शकर का धर्म-दर्शन इन सभी अनुपथी दार्शनिकों के सिद्धान्त से अधिक आशावादी प्रतीत होता है । वे इसी जीवन मे बन्धन से छुटकारा सम्भव मानते है । उनके इस सिद्धान्त के सामने कोई भी दार्शनिक मत नहीं टिक सकता है । उनके विचार से परम सत् स्व-आश्रित, पूर्णत परिवर्तनीय और व्याघात रहित है । यह मत भी तर्क सगत है और परम सत्

का परिवर्तनीय या किसी अन्य रूप मे पराश्रित मानने वाले सिद्धान्त से उत्तम भी है । ब्रह्म या परमसत् विषयक किसी भी अन्य सम्प्रत्यय मे इतनी तत्वमीमासीय अन्तर्दृष्टि और तर्कीय सूक्ष्मता नहीं है, जितनी शकर के सिद्धान्तों मे है । वस्तुत उनके सिद्धान्त स्वभावत दार्शनिक उतने नहीं है, जितने कि ईश्वरमीमासीय है। इसके विपरीत शकर ईश्वरमीमासीय कल्पना की अपेक्षा दार्शनिक प्रकल्पना पर अधिक बल देते है । साथ ही वे हमारे सामान्य अनुभव की भी उपेक्षा नही करते है । इससे उनका मत अधिक वैज्ञानिक और बुद्धि ग्राह्य लगता है ।

3 शकर-दर्शन की आधुनिक विज्ञान से तुलना -

इस खण्ड पर विचार करने का हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि शकर वैज्ञानिक थे । किन्तु मै इस तथ्य पर अपना मत देना चाहता हूँ कि आठवीं-नवीं शताब्दी के एक दार्शनिक के विचारों मे और आधुनिक वैज्ञानिकों के विचारों मे कितना साम्य है ।

सन् 1905 मे आइण्स्टीन के द्वारा प्रकाशित सापेक्षता सिद्धान्त के पहले लोगों की धारणा यह थी कि- "देश, हमारे चारों ओर फैली हुई कोई वस्तु है और ' काल ' हमसे होती हुई, हमारे पीछे बहती जाने वाली कोई चीज है । ये दोनों एक दूसरे से भिन्न प्रकार के समझे जाते थे । हम देश मे अपने कदमों को फिर खोज सकते है, किन्तु काल मे नहीं । हम देश मे धीरे चलें, तेज चलें, या बिल्कुल न चलें, जैसा चाहे करे, किन्तु काल के प्रवाह पर कोई नियन्त्रण

नहीं कर सकता है, वह अपनी गति से सदा चला करता है । किन्तु आइस्टीन के प्रथम परिणाम को मिकोवस्की ने चार वर्ष बाद स्पष्ट करते हुए कहा कि प्रकृति इन सब बातों को कुछ नहीं जानती ।"[1] मिकोवस्की के शब्दों- "देश और काल एक दूसरे से विच्छिन्न रूप मे विलीन होकर छायामात्र रह गये है । दोनों के समन्वित रूप मे ही कुछ सत्यता रह गई है ।"[2] अत यह विश्वास किया जाता है कि "सापेक्षता सिद्धान्त का सार यह है कि प्रकृति देश और काल के विभाजन के विषय मे कुछ भी नहीं जानती है ।"[3] इस प्रकार देश और काल जिन्हे पहले यथार्थ वस्तु समझा जाता था, सापेक्षता के सिद्धान्त के प्रकाश मे केवल सापेक्ष समझे जाने लगे । सापेक्षता का भौतिक सिद्धान्त बहुत बडी मात्रा मे इस बात की सम्भावना का सकेत करता है कि देश और काल का अपने आप मे अलग से अस्तित्व नहीं है । वे व्यापक देश-काल की इकाई मे से वैयक्तिक चयनमात्र है । अब हम कह सकते है कि भूत और भविष्य जैसे काल के विभाजन गलती से किन्तु जानबूझकर शाश्वत तत्व से सम्बद्ध किए जाते है । हम कहते है ' था ', ' है ' या ' होगा ' किन्तु सत्य यह है कि केवल ' है ' का सही रूप मे प्रयोग किया जा सकता है ।[4] सापेक्षता के सिद्धान्त ने काल को केवल देश

- -

1 जेम्स जीन्स, दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 121

2 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 127

3 जेम्स जीन्स, फिजिक्स एण्ड फिलासफी पृ0 - 199

4 मिस्टीरियस यूनीवर्स. पृ0 - 144-45

का ही चौथा आयाम बना दिया है । "काल के एक आयाम के साथ देश के तीन आयाम जुडे हुए है ।"[1] सर जेम्स जीन्स द्वारा दिए गये उदाहरण के अनुसार जैसे क्रिकेट के मैदान मे क्रिकेट का गेंद आगे, पीछे, दाये, बाए कुछ नहीं जानता वैसे ही प्रकृति भी देश और काल के भेदों से परिचित नहीं है । हमारे नित्य के अनुभव मे रहने वाले देश और काल जैसी वस्तुए भौतिकी के सत् मे विद्यमान नहीं है और यदि देश और काल सत् का आभासमात्र है तो उनके अन्तर्गत आने वाली सभी वस्तुए भी वैसी ही होंगी । इस प्रकार आभास और सत् का भेद सापेक्षता सिद्धान्त का ही एक उपनिगमन प्रतीत होता है । सर जेम्स जीन्स के शब्दों मे- भौतिक ससार से आभास जगत की रचना होती है, किन्तु वह सत् का समग्र ससार नहीं है । हम ससार या सत् को बहती हुई एक गहरी धारा कह सकते है । आभास का ससार ऊपरी सतह है । उसके नीचे हम नहीं देख सकते है ।[2]

प्रो० कुर्ट गाडेल ने अपने लेख " ए रिमार्क एबाउट दि रिलेशनशिप बिटवीन रिलेटिविटी थ्योरी एण्ड आइडियलिस्टिक फिलासफी"[3] मे भी ऐसा ही दृष्टिकोण व्यक्त किया है । उनके अनुसार दो घटनाओं को देखने वाला एक व्यक्ति उन्हे समकालिक समझता है तो उन्हीं घटनाओं को देखने वाला दूसरा व्यक्ति (जो दूसरे ससार मे रहता है) कह सकता है कि वे समकालिक नहीं है । दोनों ही लोग अपनी सच्चाई का दावा कर सकते है । इस सिद्धान्त को

---

1 मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 123

2 फिजिक्स एण्ड फिलासफी, पृ0 - 193

3 एल्बर्ट आइन्स्टीन, फिलास्फर - साइटिस्ट, पृ0 - 557-562

समकालिकता की सापेक्षता ' कहते है । गाडेल के अनुसार इस सिद्धान्त ने समकालिकता को उसके वस्तुगत अर्थ से वचित कर दिया है ।

काल और परिवर्तन के प्रत्यय रहते है या बिल्कुल समाप्त हो जाते है । काल के बिना परिवर्तन और परिवर्तन के बिना काल बुद्धिगम्य नहीं है । अत समकालिकता की सापेक्षता का अर्थ है वस्तुगत काल को अस्वीकार करना और इसके साथ ही परिवर्तन भी आभासमात्र सिद्ध हो जाता है । परिवर्तन सामान्य बुद्धि के ससार तक ही सीमित रह जाता है, सत् तत्व से उसका कोई प्रयोजन नहीं । कुर्ट गाडेल के शब्दों मे- "समय बीतने के साथ ही परिवर्तन सम्भव है । वस्तुगत काल-यापन के अस्तित्व का अर्थ यह है कि सत् मे एक के बाद एक आने वाले ' अभी ' के अनन्त पर्त विद्यमान है । किन्तु यदि समकालिकता सापेक्षिक है, तो सत् को इस वस्तुगत विधि से पर्तो मे नहीं उधेडा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने ' अभी ' है, वे वस्तुगत काल-यापन का प्रतिनिधान किसी प्रकार भी नहीं करते है ।"[1] इस प्रकार काल की सापेक्षता मे "उन दार्शनिकों के सिद्धान्त का अकाट्य समर्थन मिल जाता है, जो परिवर्तन की वस्तुपरता स्वीकार नहीं करते है और परिवर्तन को हमारे विशेष प्रकार के दृष्टिकोण से उत्पन्न भ्रम या आभासमात्र मानते है ।[2]

---

1 एलबर्ट आइस्टीन, पृ0 - 558

2 एलबर्ट आइस्टीन, पृ0 - 557

फिर भी, सापेक्षता के सिद्धान्त के समर्थक देश और काल के सामान्य अनुभव का अस्वीकार नहीं करते है । नित्य प्रति के व्यावहारिक जीवन की द्रष्टि से देश और काल उसे भी उसी प्रकार मान्य है जैसे हम सब लोगों को। केवल वैज्ञानिक दृष्टि से अथवा वे सत् को जैसा कुछ समझते है, उसके अनुसार वे उन्हे आभास मात्र घोषित करते है । प्रो0 हेनरी मारगेनू के शब्दों मे- "आइन्स्टीन अन्य वैज्ञानिक की तरह व्यावहारिक रूप मे बाह्य ससार का अस्तित्व स्वीकार करता है । वह ससार देखने वाले मनुष्यों से स्वतत्र है ।"[1] किन्तु इसके साथ ही वह "उस ससार को देखने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण और ससार के अपने प्रत्यय मे भेद अवश्य मानता है ।"[2] उसके विचार से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष केवल इस बाह्य-ससार की सूचना देता है भौतिक सत् का परोक्ष ज्ञान होता है । उसे केवल परिकल्पना से ही जाना जाता है । परिवर्तन के अर्थ मे सापेक्षता ' अव्यवहित निरीक्षण के क्षेत्र मे आरोपित की जाती है '[3], उनके मूल विवरण या भौतिक नियमों पर नहीं । विश्व के वस्तुगत होने के लिए भौतिक नियमों को अपरिवर्तनीय होना ही चाहिए । इससे स्पष्ट है कि एल्बर्ट आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिकों ने ससार को दो दृष्टिकोणों से देखा है - एक तो सामान्य व्यक्ति का दृष्टिकोण तथा दूसरा उस व्यक्ति का जिसे वैज्ञानिक की विवेकपूर्ण दृष्टि प्राप्त है ।

---

1 आइस्टीन्स कान्सेप्शन ऑफ रियल्टी पृ0 - 248

2 आइस्टीन्स कान्सेप्शन ऑफ रियल्टी, पृ0 - 249

3 आइस्टीन्स कान्सेप्शन ऑफ रियल्टी, पृ0 254

यद्यपि आइन्स्टीन वस्तुगत अस्तित्व को वैज्ञानिक भाषा मे ज्ञेय मानते है किन्तु वे ' अज्ञेय ' के प्रति दुख भी नहीं प्रकट करते है । जैसा कि प्रा0 हनरी मारगेनू ने कहा है- "आइन्स्टीन के अनुसार सत् कोई ऐसी वस्तु है जो अकथनीय है । उसे कभी-कभी रहस्यमय और आश्चर्य जनक कहा जाता है ।"[1] आइन्स्टीन के अपने शब्दों मे "भौतिक सत् के बारे मे हमारा विचार कभी अन्तिम नहीं हो सकता है । हमे अपने विचार बदलने के लिए सदा प्रस्तुत रहना चाहिए ।"[2] "सत् के बारे मे गणित के जो नियम है, वे कुछ निश्चित नहीं है । जहाँ तक वे निश्चित है, वहाँ तक वे सत् के सन्दर्भ मे नहीं है ।"[3] सापेक्षता का तात्पर्य है कि- वस्तुपरता का अर्थ विज्ञान के बाह्य क्षेत्र मे पकडा नहीं जा सकता है । ऐसा समझा जाता है कि आइस्टीन ने सभी विज्ञानों की आधारभूत तत्वमीमासीम समस्या को अछूता छोड दिया है, उसकी व्याख्या नहीं की है । वस्तुत यही बात अधिकाश आधुनिक वैज्ञानिकों की है । विज्ञान की उपलब्धियों पर विचार प्रकट करते हुए सर जेम्स जीन्स ने कहा है कि उनमे जो कुछ खोज की गई है या जो कुछ निर्णय निकाले गये है, वे सब परिकल्पनात्मक और अनिश्चित है । हम इससे अधिक दावा नहीं कर सकते कि विज्ञान से एक धुधला सा प्रकाश मिलता है । विज्ञान को घोषणाए करना छोड देना चाहिए । ज्ञान की नदी प्राय उलटी बह

---

1 आइस्टीन्स कान्सेप्शन ऑफ रियल्टी, पृ0 - 250

2 आइस्टीन, द वर्ल्ड एज आई सी इट, पृ0 - 60

3 आइस्टीन, साइडलाइट ऑफ रिलेटिविटी, पृ0 - 248-50

चलती है ।"[1] गणित का सूत्र यह कभी नहीं बता सकता कि वस्तु क्या है । उससे केवल यह जाना जा सकता है कि वह वस्तु कैसे कार्य करती है ।[2]

सापेक्षता सम्बन्धी इस सिद्धान्त और आचार्य शकर के पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि- व्यावहारिक दृष्टि से देशकाल वाले बाह्य ससार की हमारी सामान्य धारणा शकर के हाथ मे भी उतनी ही सुरक्षित बनी रहती है, जितनी आधुनिक वैज्ञानिकों के हाथ मे । किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से शकर और वैज्ञानिक दोनों ही यह कहने मे सकोच नहीं करते कि सत् की वास्तविक प्रकृति के प्रति वे सत्यनिष्ठ नहीं है । सापेक्षता का सिद्धान्त शकर की इस बात का समर्थन करता है कि जैसा ससार हम जानते है, वैसा ब्रह्म मे स्थित नहीं है । सापेक्षता के ससार की प्रतीत होने वाली सतह के नीचे रहने वाला सत् देश और काल का कुछ भी भेद नहीं जानता है । सर जेम्स जीन्स ने ठीक कहा है कि- आभास और सत् का यह भेद दर्शन के समस्त इतिहास मे व्याप्त है । प्लेटो एक रूपक मे मनुष्य को एक गुफा के भीतर बँधा चित्रित करता है । वह केवल गुफा के अन्दरवाली पीछे की दीवाल देख पाता है । उसे गुफा के बाहर चलते-फिरते लोग नहीं दिखाई देते है, केवल उनकी छाया दीवाल पर पडती मालूम होती है । गुफा मे बधे आदमी को छायाओं का दृश्य-जगत् ही सत्य प्रतीत होता है । वह गुफा के बाहर के

---

1 मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 188

2 मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 178

जीवन से अनभिज्ञ है ।[1] वैज्ञानिकों के अनुसार जिस गुफा मे हम बधे है उसकी दीवाल देश और काल है, बाहरी धूप के कारण पडने वाली छायाए भौतिक कण है जो देश और काल की दीवाल पर चलते दिखाई देते है । गुफा के बाहर का सत् जो इन छायाओं को उत्पन्न करता है, देश और काल से बाहर है ।[2]

प्रो0 कुर्ट गाडेल ने अपने निबन्ध ' ए रिमार्क एबाउट द रिलेशनशिप बिटवीन रिलेटिविटी थ्योरी एण्ड आइडियलिस्टिक फिलासफी ' मे कहा है कि- " काल की सापेक्षता मे उन दार्शनिकों के विचार को अकाट्य प्रमाण मिल जाता है जो परिवर्तन की वस्तुपरता को स्वीकार नहीं करते है, उसे वैयक्तिक दृष्टिकोण के कारण भ्रम या प्रतीति मानते है ।" इसमे सन्देह नहीं कि शकर और ये वैज्ञानिक सामान्य अर्थ मे वस्तुगत ससार को इसलिए भ्रम नहीं मानते कि यह वैयक्तिक लोगों के मन की काल्पनिक या भ्रामक रचना है, किन्तु इस बात मे भी सन्देह नहीं कि परमसत् की दृष्टि से शकर और वैज्ञानिक दोनों ही ससार को असत् समझते है । इस प्रकार उच्च और निम्न दो प्रकार के दृष्टिकोण स्वीकार करने मे और सामान्य दृष्टि मे ससार को भ्रम मानने मे शकर का दर्शन सापेक्षतावादियों के सिद्धान्त के समतुल्य दिखाई देता है । यद्यपि वे देश-काल के सामान्य दृष्टिकोण को स्वीकार करते है किन्तु वे एक ऐसी सत्ता का निश्चय ही प्रतिपादन करते है जिसमे देश-काल का वास्तविक अस्तित्व नहीं है ।

---

1 फिजिक्स एण्ड फिलासफी पृ0 - 193

2 फिजिक्स एण्ड फिलासफी पृ0 - 193-194

वैज्ञानिकों के ये कथन- ' हम अभी तक परम सत् के सम्पर्क मे नहीं आये है ', ' गणितीय सूत्र यह कभी नहीं बता सकता कि वस्तु क्या है ? तथा ' जो कुछ कहा गया है एव जो निर्णय निकाले गए है, वे सब सच कहा जाय तो परिकल्पनात्मक तथा अनिश्चित है ' आदि, वस्तुत वृहदारण्यक उपनिषद् मे कहे गये ' नेति-नेति ' की तरह ही है । इसे शकर भी स्वीकार करते है। शकर का परम सत् या ब्रह्म किसी प्रकार के वर्णन या निरूपण से परे है । कितना ही आखों को फाडकर, कल्पना को दौडाकर और बुद्धि को लगाकर उसे जानने का प्रयत्न किया जाय किन्तु उसका ज्ञान सभव नहीं है । इसका अर्थ, यह नहीं कि इन्द्रियानुभविक ससार को जानने के साधन भी हमारे पास नहीं है। शकर या वैज्ञानिक कोई भी इस ज्ञान पर सदेह नहीं करते है । आभास के ज्ञान को नहीं, बल्कि परम सत् के ज्ञान को अस्वीकार किया गया है । फिर भी, शकर और इन वैज्ञानिकों मे एक महत्वपूर्ण, अन्तर है । विज्ञान को सर्वोत्कृष्ट विकसित अवस्था मे भी परिकल्पना के अतिरिक्त ज्ञान के किसी अन्य साधन से परिचित नहीं है, किन्तु शकर इसके विपरीत सत् के भवन मे प्रवेश करने का एक रास्ता जानते है ।

सापेक्षता के सिद्धान्त के अतिरिक्त विज्ञान का एक और सिद्धान्त है जो शकर के दर्शन का समर्थन करता है । वह है ' क्वाण्टम सिद्धान्त ' जो सर जेम्स जीन्स के शब्दों मे आधुनिक भौतिकी का एक महत्वपूर्ण, सिद्धान्त है ।[1]

---

1 एलबर्ट आइन्स्टीन पृ0 - 289

वैज्ञानिकों के ये कथन- ' हम अभी तक परम सत् के सम्पर्क मे नहीं आये है ', ' गणितीय सूत्र यह कभी नहीं बता सकता कि वस्तु क्या है ? तथा ' जो कुछ कहा गया है एव जो निर्णय निकाले गए है, वे सब सच कहा जाय तो परिकल्पनात्मक तथा अनिश्चित है ' आदि, वस्तुत वृहदारण्यक उपनिषद् मे कहे गये ' नेति-नेति ' की तरह ही है । इसे शकर भी स्वीकार करते है। शकर का परम सत् या ब्रह्म किसी प्रकार के वर्णन या निरूपण से परे है । कितना ही आखों को फाडकर, कल्पना को दौडाकर और बुद्धि को लगाकर उसे जानने का प्रयत्न किया जाय किन्तु उसका ज्ञान सभव नहीं है । इसका अर्थ, यह नहीं कि इन्द्रियानुभविक ससार को जानने के साधन भी हमारे पास नहीं है। शकर या वैज्ञानिक कोई भी इस ज्ञान पर सदेह नहीं करते है । आभास के ज्ञान को नहीं, बल्कि परम सत् के ज्ञान को अस्वीकार किया गया है । फिर भी, शकर और इन वैज्ञानिकों मे एक महत्वपूर्ण, अन्तर है । विज्ञान को सर्वोत्कृष्ट विकसित अवस्था मे भी परिकल्पना के अतिरिक्त ज्ञान के किसी अन्य साधन से परिचित नहीं है, किन्तु शकर इसके विपरीत सत् के भवन मे प्रवेश करने का एक रास्ता जानते है ।

सापेक्षता के सिद्धान्त के अतिरिक्त विज्ञान का एक और सिद्धान्त है जो शकर के दर्शन का समर्थन करता है । वह है ' क्वाण्टम सिद्धान्त ' जो सर जेम्स जीन्स के शब्दों मे आधुनिक भौतिकी का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है ।[1]

---

1 एलबर्ट आइन्स्टीन पृ0 - 289

पहले इस सिद्धान्त का केवल यह तात्पर्य था कि- "प्रकृति घडी की सुई की तरह छोटे-छोटे झटकों और छलागों के साथ आगे बढती है ।"[1] किन्तु "सन् 1917 मे आइन्स्टीन ने बताया कि यह सिद्धान्त उस कार्य-कारण नियम को अपदस्थ कर देता है जो अभी तक भौतिक ससार का मार्ग निर्धारित करता रहा था । पुराने विज्ञान ने बडे विश्वास के साथ कहा था कि प्रकृति केवल एक मार्ग पर चल सकती है, वह मार्ग प्रारम्भ से अन्त तक कारण और कार्य की श्रृखला से निर्मित है । ' अ ' दशा के बाद निश्चित रूप से ' ब ' दशा आती है । अब नया विश्वास कहने लगा है कि ' अ ' दशा के बाद ' ब ' ' द ' या अगणित अन्य दशाए आ सकती है । सम्भावना की बात करने के कारण यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किस दशा के बाद कौन दशा आयेगी । यह बात देवताओं की इच्छा पर निर्भर करता है- वे देवता कोई भी हो ।[2]

अब यह विश्वास किया जाता है कि प्रकृति की सगत व्यवस्था के लिए यह मानना आवश्यक है कि इसमे किसी न किसी प्रकार से अनिर्धार्यता का नियम कार्य करता है । सर जेम्स जीन्स के शब्दों मे- "प्रो0 हैसेन बर्ग ने कहा है कि आधुनिक क्वाण्टम सिद्धान्त अनिर्धार्यता का नियम मानता है । हम अभी तक यह समझते रहे कि प्रकृति सूक्ष्म रूप से निश्चित नियम पालन करती है, किन्तु हैसेनबर्ग ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रकृति निर्धार्यता का

---

1 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 31

2 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 32

तिरस्कार करती है ।[1] इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रकृति से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए गये है । प्रकृति मे अनिर्धार्यता स्वीकार किए बिना उनकी व्याख्या नहीं हो सकती है । उदाहरणार्थ, विकिरण कभी तरग रूप मे और कभी कण रूप मे दिखायी देता है । एलेक्ट्रान एव प्रोट्रान ऐसे अणु है, जिनसे सब वस्तुए बनी है, वे कभी तरग और कभी कणरूप मे दृष्टिगत होते है ।[2] "कुछ तथ्य, जैसे विकिरण और गुरूत्वाकर्षण आदि किसी भी यान्त्रिक व्याख्या के अन्तर्गत नहीं आते है ।"[3] इससे इस बात का स्पष्ट सकेत मिलता है कि प्रकृति मे अनिर्धार्यता का तथ्य विद्यमान है ।

मि0 जे0 डब्लू0 एन0 सुलीवन कहते है कि- "यदि अनिर्धार्यता का नियम पक्की तरह से स्थापित हो जाता है तो इसके दार्शनिक परिणाम बहुत महत्वपूर्ण होंगे । फिर तो यह विश्वास करना सरल हो जायगा कि स्वतत्र-सकल्प की अन्त प्रज्ञा भ्रम मात्र नहीं है ।"[4] इसमे सन्देह नहीं कि जब तक इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं मिल जाता कि प्रकृति मे अनिर्धार्यता है, हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि स्वतत्र सकल्प का हमारा विश्वास विज्ञान द्वारा समर्थित हो गया, किन्तु कम से कम इतना कहा जा सकता है कि अभी तक

---

1 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 38

2 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 54

3 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स पृ0 - 21

4 लिमिटेशन्स आफ साइस, पृ0 193-194

विज्ञान की जो साक्षी उपलब्ध थी, वह स्वय बहुत आगे बढकर स्वतत्र सफल्प के विश्वास का समर्थन करने लगी है । इसके अतिरिक्त अनेक तत्वमीमासीय और नैतिक दार्शनिकों का समर्थन भी इस विश्वास के पक्ष मे है । फिर भी, यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर भिन्न राय नहीं है । हम चाहे जिस पक्ष की ओर झुके हम यह तो अस्वीकार नहीं कर सकते कि शकर ने स्वतत्र-सकल्प को उन अनेक तथ्यों मे से एक माना है जो मानव-व्यवहार निर्धारित करते है । इतना ही नहीं, वरन् यह भी कहा जा सकता है कि शकर प्रकृति मे भी कुछ अनिर्धार्यता स्वीकार करते है । उन्होंने भगवद्गीता का अनुसरण करते हुए कर्मों के पाच हेतुओं मे ' दैव ' को भी स्वीकार किया है ।[1] सर जेम्स जीन्स के शब्दों मे कर्म या वस्तु को देवताओं के चरणों पर छोडना अनिर्धार्यता के नियम को ही स्वीकार करना है ।

इसके अतिरिक्त, क्वाण्टम सिद्धान्त या अनिर्धार्यता के नियम ने शकर के दर्शन पर एक और महत्वपूर्ण ढग से प्रभाव डाला है । वह प्रकृति के मूल मे एक प्रकार की चेतना स्वीकार करता है । जैसा कि प्रो0 सुलीवन ने कहा है- "अणु को जो नये गुण धर्म हम देना चाहते है, उनमे चेतना का कोई प्रारम्भिक रूप भी सम्मिलित करना पडेगा । आधुनिक सिद्धान्त मे इस बात का सकेत मिलता है कि अणु मे स्वतत्र-सकल्प जैसा कुछ है ।"[2]

---

1 शाकर भाष्य गीता, 18 13 14

2 लिमिटेशन्स ऑफ साइन्स, पृ0 - 139

वस्तुत "प्राचीन काल के ' लघु कठोर अणु ' विज्ञान से निकल -कर चले गये है ।"[1] और उनके स्थान पर भौतिक अणुओं की बजाय मानसिक या वैचारिक जैसी किसी वस्तु ने स्थान ग्रहण कर लिया है । सर जेम्स जीन्स के शब्दों मे- "विभिन्न सम्भावित तर्को के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि सत् को भौतिक के बजाय मानसिक कहना अधिक उपयुक्त है ।"[2] विकिरण एव पुद्गल के कण-चित्र को तरग चित्र मे परिवर्तित करके विज्ञान ने जो प्रगति की है, वह वस्तुत भौतिक से चेतना की ओर बढने की प्रगति है ।" अतएव इस प्रकार घटनाओं को ज्ञान के रूप मे समझा जा सकता है, इससे यह अनुमान लगता है कि सत् और ज्ञान एक ही प्रकृति के है, अथवा दूसरे शब्दों मे सत् पूर्णत चेतन है । विश्व का प्रतिनिधान भौतिक नहीं हो सकता, क्योंकि मेरे विचार से वह मानसिक सम्प्रत्यय मात्र बन गया है ।[3] प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंग्टन भी इसी निष्कर्ष को स्वीकार करते है कि विश्व अन्य किसी प्रकार की अपेक्षा विचार जैसा अधिक है । उसके विचार रूप (मानसिक) होने का आधार यह है कि हमे केवल अपनी मानसिक दशाओं का ही अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त है ।[4]

प्रो0 सुलीवान के अनुसार- "इस पक्ष की मुख्य बात यह है कि प्रकृति मे सातत्य का नियम विद्यमान है, उसमे कहीं रिक्त स्थान नहीं है ।"

---

1 फिजिक्स एण्ड फिलासफी, पृ0 - 199

2 फिजिक्स एण्ड फिलासफी, पृ0 - 203

3 मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 187

4 लिमिटेशन्स ऑफ साइन्स, पृ0 - 139

इसमे सन्देह नहीं कि इस नियम को अस्वीकार करने वाले लोग होंगे, किन्तु अधिकाश मत इसके पक्ष मे ही है, इसके आधार पर विज्ञान मे बहुत कल्पित कार्य हुआ है । बहुत काल तक इसे उपकल्पना के रूप मे माना जाएगा । इस सातत्य के नियम के कारण ही यह विचारणीय प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष मे आई वस्तुओं के विषय मे जो कुछ सत्य है वही बात प्रत्यक्ष करने वाले मन के लिए भी सही है ।' ऐसा लगता है कि सर जेम्स जीन्स प्रोटोन और एलेक्ट्रोन के कण-चित्र और तरगचित्र के प्रसग मे ठीक ही कहते है कि "जब हम अपने को देश और काल के अन्तर्गत समझते है तो हमारी चेतना कण-चित्र मे एक अलग व्यक्ति जैसी स्पष्ट दिखायी देती है किन्तु जब हम देश और काल के परे निकल जाते है तो हम अपने को जीवन के एकल सतत प्रवाही स्रोत का ही एक अभिन्न अग पाते है । जो बात प्रकाश और विद्युत के सम्बन्ध मे है, वहीं जीवन के सम्बन्ध मे भी है, दृश्य-जगत् देश और काल मे भले ही अलग व्यक्तियों का अस्तित्व रखता हो । किन्तु देश काल के परे सत् की गहराई मे जाने पर हम सब एक ही शरीर के अग बन जाते है ।"[1]

अतएव आधुनिक वैज्ञानिकों के विचारों से स्पष्ट है कि वे विश्व की प्रत्ययवादी व्याख्या करने के पक्ष मे है और सत्यता के नियम मे विश्वास रखने के अतिरिक्त वे सर्वोच्च स्तर पर चेतना की एक व्यवस्था भी स्वीकार करते

---

1 फिजिक्स एण्ड फिलासफी पृ0 - 204

है, अर्थात् एक ऐसी चेतना है, जिसमे हमारी वैयक्तिक चेतनाए विलीन हो जाती है । हमारी चेतनाए सर जेम्स जीन्स के शब्दो मे भीड मे व्यक्ति की तरह नहीं, बल्कि सागर मे बूँद की तरह है ।[1] इन सब बातों से शकर के दर्शन को पर्याप्त समर्थन मिलता है । शकर दृश्य-जगत के आधार और आश्रयरूप एक परम विश्व-व्यापी चेतना अर्थात् ब्रह्म मे विश्वास रखते है और उसमे वैयक्तिक चेतनाओं की एकता भी स्वीकार करते है । इसके अतिरिक्त वे तृण से लेकर हिरण्यगर्भ तक जीवन और चेतना का क्रमश अधिकाधिक विकास भी मानते है ।[2]

इसके अतिरिक्त, शकर आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह लाघवन्याय या सरलता सिद्धान्त मे पूरा विश्वास रखते है । इस न्याय या सिद्धान्त के अनुसार हमे अपने सम्प्रत्यय या पदार्थ अनावश्यक रूप से नहीं बढाने चाहिए । ऐसा विश्वास है कि- "ससार का सर्वोत्तम वर्णन वहीं होगा, जो सरलतम हो ।"[3] न्यूटन कारणों की अनावश्यक वृद्धि के पक्ष मे नहीं था । उसके दार्शनिक चिन्तन का प्रथम नियम यही था कि- " हमे प्राकृतिक वस्तुओं के उससे अधिक कारण मानने को तैयार नहीं है, जितने कि वस्तुओं की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त और सत् है ।"[4] अतएव विश्वास किया जाता है कि प्रकृति अन्तत सरल है । तदनुसार

---

1 फिजिक्स एण्ड फिलासफी पृ0 - 204

2 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 1 3 30

3 हेनरी, मारगेनू, आइन्स्टीन्स कान्सेप्शन ऑफ रियेलिटी, पृ0 - 255

4 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 116

वह अपनी सरल व्याख्या चाहती है । शकर ने इस नियम का पूर्णत पालन किया है । उन्होंने सब तत्वों और सत्ताओं को अन्तत एक ब्रह्म मे ही समन्वित कर दिया है । वस्तुत हम उनकी रचनाओं मे इस सिद्धान्त का भलीभाति प्रयोग पाते है । उदाहरणार्थ, ब्रह्मसूत्र, । 3 28 पर भाष्य लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि हमे गरीयसी कल्पना की तुलना मे लघीयसी कल्पना करनी चाहिए। उन्होंने स्फोट-कल्पना को निरस्त कर अक्षर-कल्पना को इसीलिए स्वीकार किया है क्योंकि वह पहली से अधिक सरल है । उनके अनुसार- "जो लोग अक्षरों को ही शब्द मानते है वे अपनी प्राक्कल्पना इस प्रकार प्रस्तुत करते है- अक्षरों से शब्द बनता है । शब्द मे अक्षरों की एक विशेष सख्या और क्रम होता है। परम्परा से प्रयुक्त होकर वे एक विशेष अर्थ से सम्बद्ध हो जाते है । प्रयोग किए जाने पर वे बुद्धि के सामने एक विशेष क्रम और सख्या मे उपस्थित होते है । बुद्धि उन्हे उस क्रम मे देखकर उनका अर्थ, ग्रहण करती है । यह प्राक्कल्पना वैयाकरणों की उस प्राक्कल्पना से कहीं सरल है जो कहते है कि स्फोट ही शब्द है । वे प्रत्यक्ष वर्तमान वस्तु की उपेक्षा कर एक ऐसी वस्तु की कल्पना करते है, जिसे कभी देखा नहीं गया । वे कहते है कि अक्षरों को एक विशेष क्रम मे रखने से स्फोट होता है और फिर स्फोट से अर्थ, व्यक्त होता है ।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि शकराचार्य सरलता के नियम का पूर्णरूप से पालन किया है ।

---

1 शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, । 3 28

शकर के कुछ अन्य सिद्धान्त भी वैज्ञानिकों के मतों से साम्य रखते है । दोनों ही ससार को बहुत विस्तीर्ण, प्राचीन, परिवर्तनीय और नश्वर मानते है । अब वैज्ञानिक लोग विश्व के विस्तार और प्राचीनता से ही चकित नहीं है,[1] बल्कि उन्होंने यह भी समझ लिया है कि वह परिवर्तनशील तथा नश्वर स्वभाव का है । सर जेम्स जीन्स ससार के विनाश के सम्बन्ध मे लिखते है कि- "इस प्रकार का अन्त हमारी पृथ्वी के लिए ही अनोखा नहीं है, दूसरे सूर्य भी इसी प्रकार नष्ट होंगे और यदि अन्य लोगों मे जीवन है तो वह भी उसी प्रकार समाप्त होगा । थर्मोडायनमिक्स का दूसरा नियम भविष्यवाणी करता है कि विश्व का एक ही प्रकार से अन्त होगा- उसकी ताप मृत्यु होगी अर्थात् विश्व की समग्र ऊष्मा समान रूप से वितरित हो जाएगी और ससार की सभी वस्तुए समान ताप की हो जाएगी । यह ताप इतना कम होगा कि उसमे जीवन सभव न होगा ।"[2] वास्तव मे, वैज्ञानिक यह विश्वास करने लगे है कि एक अर्थ मे मृत्यु हर दिन और हर क्षण होती रहती है । भौतिक शास्त्र के वैज्ञानिक ससार के घटक परमाणु या अणु अथवा उनके भी घटक एलेक्ट्रान और प्रोट्रान मानते है । वे सब निरन्तर परिवर्तित होते रहते है । अत उदाहरणार्थ- उच्चकोटि के अवयवियों के तत्व के विषय मे कहा जाता है कि- "उनमे समूचे जीवन का दो प्रकार से मृत्यु होती

---

1 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 11-25

2 दि मिस्टीरियस यूनीवर्स, पृ0 - 24

है । प्रथम, शरीर के कोष प्रतिक्षण नष्ट हुआ करते है और उनका स्थान नये कोष लेते रहते है । द्वितीय, शरीर के परमाणु नष्ट होकर शरीर से बाहर निकलते रहते है । सरल यौगिकों से जीव-द्रव्य (प्रोटो प्लाज्म) निरन्तर निर्मित होता रहता है और उसके निर्माण मे जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह उन्हीं के विनाश से प्राप्त होती है ।"[1]

कभी-कभी आचार्य शकर के धर्म-दर्शन की आलोचना इस बात पर की जाती है कि इसमे आस्था को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है कि वह अवैज्ञानिक और आदर्शनिक दिखायी देने लगा है । किन्तु इस विषय मे भी उन्हे वैज्ञानिकों का समर्थन प्राप्त है । उदाहरणार्थ- जब यह कहा जाता है कि- "भौतिक शास्त्रियों को खोज करते समय आलोचना मे अधिक नहीं पडना चाहिए, प्रारम्भ मे उसे प्राक्कल्पना या अनुमान पर आश्रित रहना पडता है । उस समय उसे किसी आस्था का सहारा लेकर खोज के लिए आगे बढना पडता है ।[2] इस प्रकार प्रारम्भिक आस्था का वैज्ञानिक मूल्य भी स्वीकार किया गया है । एक बार जब प्रो0 आइन्स्टीन से पूछा गया कि "उन्होंने सापेक्षता के सिद्धान्त की खोज कैसे की, तो उन्होंने उत्तर दिया कि वे विश्व के सामञ्जस्य के प्रति बहुत अधिक आश्वस्त होने के कारण उसकी खोज कर सके ।"[3] आत्म-व्याघाती बातों को

---

1 जूलियस हक्सले, एसेज इन पापुलर साइस, पृ0 - 95

2 एलवर्ट आइन्स्टीन, फिलासफर साइटिस्ट, पृ0 - 292

3 एलवर्ट आइन्स्टीन, फिलासफर साईटिस्ट, पृ0 293

छोडकर अन्य नियमों मे सदा सशयवादी बने रहने से व्यावहारिक जीवन मे कई लाभ हो सकता है । आस्था अपने मे कुछ बुरी नहीं है । आस्था वही अनुचित है जिसमे अन्ध-विश्वास है और अन्त तक जिसे प्रमाण का समर्थन नहीं प्राप्त होता । प्रारम्भिक आस्था को अन्त मे प्रमाण की आवश्यकता होती है, इस तथ्य को सभी स्वीकार करेगे । शकर ने इस बात पर पर्याप्त बल दिया है और वैज्ञानिक भी इस पर पूर्ण विश्वास करते है । शाकर का कर्मवाद मे विश्वास इस बात को सिद्ध करता है कि वे ऊर्जा के सरक्षण-सिद्धान्त को मानते थे । वे कारणता के नियम को नैतिक क्षेत्र मे भी स्वीकार करते थे । स्पष्ट है कि आचार्य शकर के दार्शनिक विचार आधुनिक युग के वैज्ञानिकों से पर्याप्त साम्य रखते है ।

4. उपसहार -

आचार्य शकर का दर्शन सभी भारतीय दर्शनों का शिरोमणि कहा जाता है । आचार्य शकर के विचार केवल श्रुतिसम्मत ही नहीं अपितु तर्कों द्वारा भी पूर्ण प्रतिष्ठित है । उन्होंने अपने तर्क-बल के आधार पर ही प्राय अन्य सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की कटु आलोचना भी की है । उनके विषय मे कहा जाता है कि-

> तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
> न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त-केशरी ।।

"कानन मे श्रृगाल रूपी शास्त्रों की आवाज केवल तभी तक सुनाई पडती है जब तक वेदान्त केशरी (आचार्य-शकर) का सिहनाद नहीं होता ।"

अर्थात् आचार्य शकर के विचारों एव तर्कों से अन्य सभी दार्शनिक तथा उनके सिद्धान्तों की दीवालें ढह जाती है । यही कारण है कि अनेक शताब्दियों से विद्वान् लोग इस दर्शन (वेदान्त) की ओर आकर्षित होते रहे है और यह दर्शन अपने विरोधियों के आक्रमणों से अपनी रक्षा करता रहा है । उपसहार के रूप मे उन तथ्यों का उल्लेख करना अनुचित न होगा जिसके कारण यह दर्शन इतना अधिक लोकप्रिय एव जन-समर्थित रहा है ।

सर्वप्रथम, हम कह सकते है कि वेदान्त-दर्शन मे जीवन का जो सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है वह निर्विवाद रूप से सर्वोच्च सभव आदर्श है । पूर्ण सच्चिदानन्द की अखण्ड और शाश्वत उपलब्धि और वह भी इसी जीवन मे सम्भव बताना इस दर्शन की सबसे बडी विशेषता है । कोई भी साधक इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । सगुण ईश्वर के सानिध्य और साक्षात्कार की तुलना मे ब्रह्म या परम सत् से तादात्म्य प्राप्त करना कहीं ऊँची बात है । अपने सीमित अह से ऊपर उठकर सर्वव्यापी अह प्राप्त करना जीवन की बहुत बडी उपलब्धि मानी जायेगी । उसमे भी एक बडा आकर्षण यह है कि वह इसी जीवन मे प्राप्त हो सकती है । ससार मे ऐसा कोई दर्शन नहीं है, जो इस बात मे इसके समतुल्य हो, इससे आगे बढने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

पुनश्च, परम सत् को हमारी आत्मा ही बताकर इस दर्शन ने हमारे समक्ष उसका सबसे प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किया है । दर्शन की अन्य पद्धतियों मे परमसत् केवल एक मानसिक रचना या कल्पना है, इसलिए वह सदा अप्रमाणित

समस्या ही बना रहता है । इसके विपरीत इस दर्शन का परमसत् हमारे अव्यहित अनुभव का विषय होने के कारण नितान्त असदिग्ध है । इसमे सन्देह नहीं कि हमे इसकी अनुभूति धूमिल और आशिक रूप मे ही प्राप्त है, किन्तु उसका अस्तित्व हमसे कभी ओझल नहीं होता है । यदि कोई व्यक्ति उसके स्पष्ट साक्षात्कार के लिए उचित प्रयत्न करे तो उसे अपनी ही आत्मा मे उसकी अनुभूति प्राप्त हो सकती है । आचार्य शकर का मत है कि शास्त्रों के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होता है अथवा बौद्धिक चिन्तन के द्वारा हम जिस निर्णय पर पहुँचते है उसकी पुष्टि हम अपनी अपरोक्षानुभूति से कर सकते है । इस बात से इस दर्शन की पवित्र भावना का और उसके प्रतिवादकों का अपने निर्णयों पर पूर्ण विश्वास का स्पष्ट सकेत मिलता है ।

सामान्यत सभी अन्य दर्शन और विशेष रूप से पश्चिमी दर्शन अनुभव के तथ्यों और उनके ज्ञान के साधनों के विषय मे बडे ही सकीर्ण है । उनके विपरीत यह दर्शन वस्तुत समन्वयकारी और उदार है । यह केवल जाग्रत अवस्था के अनुभवों का ही अध्ययन नहीं करता बल्कि स्वप्न और सुषुप्ति के साथ ऋषियों-मुनियों की रहस्यानुभूतियों का भी अवलोकन करता है और उनके ज्ञान का उपयोग करता है । इन्द्रिय प्रत्यक्ष, विचार, शब्द-प्रमाण और प्रातिभ ज्ञान का अपने-अपने क्षेत्र मे उचित महत्व स्वीकार किया गया है ।

आचार्य शकर के दर्शन की सर्वप्रमुख विशेषता, जिसके कारण अन्य दर्शनों के बीच इसका सर्वोच्च स्थान है और अनेक आक्षेपों के बावजूद यह अडिग

बना रहा, यह है कि इसका आधार दृढ और निर्दोष ज्ञान-मीमासा पर टिका है। इसकी ज्ञान-मीमासा का मूल-विश्वास यह है कि आत्मा-चेतन स्वरूप है । कोई, किसी भी प्रकार के सत्तामीमासीय सिद्धान्त का समर्थन करे, किन्तु ज्ञाता की तत्व-मीमासीय प्रधानता या केन्द्रीयता को कोई भी उपेक्षित नहीं कर सकता है । इस दर्शन मे आत्मा के रूप मे चेतना को सर्वोपरि असदिग्ध सत् स्वीकार किया गया है । इसके अस्तित्व मे न कभी शका की जा सकती है और न कभी इसे असिद्ध किया जा सकता है । इसमे सन्देह नहीं कि किसी पदार्थ (कटेगरी) के रूप मे इसे नहीं समझा जा सकता, इस कारण इसका ज्ञान किसी विषय की भाति कभी सम्भव नहीं है । वह अव्यवहित, अविषयगत और अतर्क्य है । यदि ह्यूम की तरह कोई व्यक्ति आत्मा को विषय रूप मे देखने का प्रयत्न करता है तो उसे निश्चय ही किसी अनात्म तत्व से इधर-उधर टकराना पडेगा । तर्क के लिए यह मानना नितान्त आवश्यक है कि हम चेतना या आत्मा को अपना निकटतम एव परात्पर तत्व मानें । उसका कभी विस्मरण या अभाव न हो सकना ही इस दर्शन को अजेय शक्ति प्रदान करता है ।

इसके अतिरिक्त परमसत् को निर्विकार स्वतत्र और स्वप्रकाश स्वरूप मानना, निश्चय ही सत् को शुद्ध सम्भवन स्वरूप अथवा सब परिवर्तनों और विकारों को उसके अन्दर मानते हुए उसे पूर्ण और निर्विकार बताने की अपेक्षा कहीं अधिक तर्क-सगत है । सत् को शुद्ध सम्भवन अथवा परिवर्तन स्वरूप बताने से वह किसी दूसरी वस्तु के आश्रित हो जाएगा और स्वय सभवन की अपेक्षा वही वस्तु अधिक

सत् होगी । परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील के इस भेद का यह भी अर्थ, होगा कि पहला भ्रामक और दूसरा सत् है । यदि सत् को पूर्ण, और सभवन स्वरूप दोनों लक्षणों से सम्पन्न मानें तो इसमे स्पष्ट आत्म-व्याघात होगा । सत् को आत्माश्रित होना नितान्त आवश्यक है, इसलिए वह कूटस्थ भी होगा ही । शकर के ब्रह्मवाद मे सत् विषयक यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है । यही कारण है कि यह दर्शन अन्य सभी दर्शनों से परमसत् के सम्बन्ध मे अधिक सत्यनिष्ठ दिखायी देता है ।

किन्तु यदि सत् को कूटस्थ और अपरिवर्तनीय माना जाता है तो सगत विचार यही निर्णय प्रस्तुत करेगा कि परिवर्तन असत् होना चाहिए । हम देखते है कि शकर ने तर्क की रक्षा करते हुए उसे असत् घोषित किया है । तो भी, सभवन के आभास का प्रश्न उठता ही है । सम्भवन के चाहे सत् माना जाय या असत् उसे आत्माश्रित तो कहा ही नहीं जा सकता है । आभास के विषय मे कुछ भी कहा जाय, किन्तु वह अपने मे अपने आप स्थित नहीं रह सकता है । उसके लिए कुछ आधार और आश्रय अवश्य होना चाहिए । सत् के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है, जो उसे आधार और आश्रय प्रदान करे ? अत, यदि शकर ब्रह्म को निरपेक्ष सत् और सम्भवन, स्वरूप समस्त ससार का अतिम आधार और आश्रय मानते है, तो उनका विचार तर्क-सगत ही है । इसके साथ यह कहना भी उचित प्रतीत होता है कि सत् के वास्तविक स्वरूप मे सम्भवन का प्रवेश सम्भव नहीं है । अन्यथा, सत् का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा और आत्म-व्याघात उपस्थित होगा ।

क्या ऐसी स्थिति मे हम यह नहीं पूछ सकते कि सम्भवन का सत् से क्या सम्बन्ध है ? यह एक सर्वोपरि समस्या है । शाकर-दर्शन का अध्ययन करने वाले को देर-सबेर इसका सामना करना पडता है । इस प्रश्न पर शकर का उत्तर सामान्यत सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता है । किन्तु हमे यह कहने मे सकोच नहीं कि यदि हम शकर के सूक्ष्म तर्को का सत्यनिष्ठा के साथ अनुकरण करे तो शकर ने जो उत्तर दिया है, उसके अतिरिक्त कोई और सतोषजनक विकल्प नहीं दिखायी देता है । शकर का उत्तर यही है कि ऐसा कुछ अनिर्वचनीय है, जो किसी प्रकार सत् से सम्बद्ध है किन्तु वह सत् की वास्तविक प्रकृति मे न तो प्रवेश करता है और न उस पर किसी प्रकार का प्रभाव डाल पाता है । इसमे सन्देह नहीं कि इस प्रकार की अवधारणा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के साथ सगत नहीं दिखायी देती, किन्तु तर्कीय सगति को ही ध्यान मे रखकर हम इस परिणाम पर पहुँचते है । यही कारण है कि श्री हर्ष, वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वराचार्य और माधवाचार्य जैसे तार्किक और विद्वानों ने इस दर्शन से अपनी सहमति प्रकट की है और इसमे कुछ भी तर्क-विरूद्ध नहीं पाया है । दृढ तर्क और साहसपूर्ण प्रतिज्ञप्तियॉ ही इस दर्शन की सशक्त और सुदृढ आधार है । सबसे बडी बात तो यह है कि इस दर्शन मे अव्यवहित तथा असदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने की जो प्रेरणा दी गई है, उससे इसके ऊपर लगाए गये असगति के सभी आक्षेप धुल जाते है । प्रो0 मि0 एम0 सिन्क्लेयर ने कहा है- "जो बात असंदिग्ध एव निश्चयात्मक है उसके लिए तर्क की आवश्यकता नहीं होती है ।"[1]

---

1 ए डिफेन्स आफ आइडियलिज्म, पृ0 - 379

आचार्य शकर का व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दृष्टिकोण का भेद स्मरणीय है । यह भेद वैज्ञानिकों द्वारा भी समर्थित है क्योंकि वे स्वय ऐसा भेद मानते है । सत् के विषय मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा सामान्य लोगों के दृष्टिकोण मे अन्तर है । शकर के इस द्विविध दृष्टिकोण के कारण, एक तो इस दर्शन पर लगाया जाने वाला नैतिकता के प्रति उपेक्षा या तटस्थता का आरोप दूर हो जाता है और दूसरे बहुत से लोग इसकी ओर इस आशा से आकर्षित होते है कि इसके निदेशित मार्ग पर चलकर सदा के लिए अपने को दुख और दोषों से मुक्त कर सकेगे । यदि ससार मे ऐसा कोई दर्शन है जो पारमार्थिक दृष्टि से ही सही, दोषों को नितान्त असत् घोषित करता है तो यह एक मात्र दर्शन न सही कम से कम उनमे से एक अवश्य है । ससार की अन्य वस्तुओं की तरह दोषों की व्यावहारिक सत्ता अन्य दर्शनों की भाति इसमे भी स्वीकार की गई है और तदनुसार धार्मिक तथा नैतिक जीवन पालन करने का बडा महत्व बताया गया है । नैतिकता का पालन किए बिना परमसत् का ज्ञान सभव नहीं है और उसके बिना दोषों से भी मुक्ति नहीं मिल सकती । यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए जीवन मे नैतिक और आध्यात्मिक सयम उतना ही आवश्यक है जितना जीवन के परम सत्, परमशुभ और परमानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए यथार्थ ज्ञान आवश्यक है ।

*****

सन्दर्भ, ग्रन्थ सूची

सस्कृत एव हिन्दी ग्रन्थ

1 ईशादि-दशोपनिषद् और उन पर शाकर भाष्य, वाणी विलास, सस्कृत पुस्तकालय, काशी ।

2 ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य (गौडपाद की कारिका सहित), ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर उपनिषद् और उन पर शाकर भाष्य तथा उनका अनुवाद गीता प्रेस, गोरखपुर ।

3 ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय सस्करण ।

4 ब्रह्मसूत्र पर शाकर भाष्य और रत्न प्रभा (तीन खण्ड) भोले बाबा का हिन्दी अनुवाद, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी ।

5 रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य, वासुदेव शास्त्री अभयकर फरग्यूसन कालेज, पूना द्वारा सपादित तथा गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित ।

6 भामती, शाकर भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की टीका, चौखम्बा सस्कृत माला कार्यालय, बनारस ।

7 ब्रह्मसूत्र पर श्री बल्लभाचार्य का भाष्य (अणुभाष्य), चौखम्बा सस्कृत माला कार्यालय, बनारस ।

8 श्रीमद्भगवद् गीता-शाकर भाष्य और गोयन्दका द्वारा उसका हिन्दी अनुवाद, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

9 श्रीमद्भगवद् गीता-रहस्य लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, हिन्दी अनुवादक-माधव राव, नवजीवन प्रिंटिग प्रेस, पूना ।

10 श्रीमद्भगवद् गीता-रामानुज भाष्य और गोयन्दका द्वारा उसका हिन्दी अनुवाद, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

11 आत्मबोध, शकर अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी ।

12 अपरोक्षानुभूति, शकर अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी ।

13 लघुवाक्यवृत्ति, शकर अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी ।

14 प्रौढानुभूति, शकर अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी ।

15 तत्वोपदेश, शकर अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी ।

16 दश-श्लोकी, शकराचार्य ।

17 पचदशी, विद्यारण्य स्वामी, उस पर रामकृष्ण की टीका, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, काशी ।

18 सक्षेप-शारीरकम्, श्री सर्वज्ञमुनि, चौखम्बा सस्कृत माला, बनारस ।

19 सर्वदर्शन सग्रह, माधवाचार्य, लक्ष्मी वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

20 सिद्धान्त क्लेश सग्रह, श्रीमद् अप्पय दीक्षित, हिन्दी अनुवाद-मूलशकर व्यास, अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी ।

21 नैष्कर्म्य सिद्धि - सुरेशवराचार्य, ट्यूटोरियल प्रेस, गिरगाव, बैंक रोड, बम्बई ।

22 वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, प्रकाशानन्द, अग्रेजी अनुवादक स्वर्गीय कर्नल आर्थरवेनिस, ई0जे0 लजारूस एण्ड कम्पनी, बनारस ।

23 सिद्धान्त बिन्दु, मधुसूदन सरस्वती, हिन्दी अनुवाद-श्रीकृष्णपत, अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी ।

24 अद्वैत-सिद्धि, मधुसूदन सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

25 श्रीखण्डनखण्डखाद्य, श्रीहर्ष, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

26 श्रीमद्भागवत्, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

27 श्रीमद्भागवत्, एकादश स्कध, हिन्दी अनुवादक स्वामी अखण्डानन्द, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

28 पातजल - योगदर्शन, हिन्दी अनुवादक श्री हरिकृष्ण दास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

29 शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड, गोस्वामी गिरधर जी, चौखम्बा सस्कृत माला बनारस ।

30 भारतीय दर्शन की कहानी, प्रो0 सगमलाल पाण्डेय, जार्जटाउन, इलाहाबाद ।

अग्रेजी ग्रन्थ

1. A History of Indian Philosophy Vol II, By Jadunath Sinha, Central Book Agency, 14 Bankim Chatterjee Street, Calcutta

2 A History of Indian Philosophy, By Surendra Nath Das Gupta, (Vol I,II,III & IV) Cambridge University Press

3 Indian Philosophy: By S. Radhakrishnan, The MacMillan Company, New York

4 Out Lines of Indian Philosophy· By M Hirianna, George Allen & Alwin Ltd London.

5 An Introduction to Indian Philosophy: By S. Chatterjee and Dhirendra Mohan Datta, University of Calcutta

6 Three Lectures on the Vedant Philosophy· By Prof Maxmuller Long mans Green and Co. London

7. A Constructive Survey of Upanishdic Philosophy By Prof R D Ranade, Oriental Book Agency, Poona

8. An Idealistic View of Life By S Radhakrishnan, George Allen and Unwin Ltd. London

9. The Nature of Self. By A.C. Mukerjee, The Indian Press Ltd Allahabad

10. The Yogavasistha and Its Philosophy. By B L Atreya, The Indian Book shop, Banaras.

11. Appearance and Reality. By F H Bradley, Clarendon Press, Oxford.

12. Ethical Studies· By F H Bradley, Clarendon Press, Oxford

13. A manual of Ethics By J S. Nackenzie, University Tutorial Press, London

14. Prolegemna to Ethics By T.H. Green, Clarendon Press, Oxford.

15. Physics and Philosophy· By Sir James Jeans, Cambridge University Press

7 A Constructive Survey of Upanishdic Philosophy By Prof R D Ranade, Oriental Book Agency, Poona

8 An Idealistic View of Life By S Radhakrishnan, George Allen and Unwin Ltd. London

9. The Nature of Self. By A.C. Mukerjee, The Indian Press Ltd Allahabad.

10 The Yogavasistha and Its Philosophy. By B L Atreya, The Indian Book shop, Banaras.

11 Appearance and Reality. By F H Bradley, Clarendon Press, Oxford

12 Ethical Studies By F H Bradley, Clarendon Press, Oxford

13 A manual of Ethics By J.S Nackenzie, University Tutorial Press, London

14. Prolegemna to Ethics. By T.H. Green, Clarendon Press, Oxford.

15 Physics and Philosophy: By Sir James Jeans, Cambridge University Press

16. Albert Einstein Edited by Paul Arthur Schilpp, North-Western University, New York

17 Karmavada Aura Janmantara· By Hirendra Nath Dutta, Translated by Lali Pd Pandeya, Indian Press Ltd Allahabad

18 Sadhana By Rabindra Nath Tagor, MacMillan and Co. Calcutta

19 The Life Divine Sri Aurovindo, Publishing House, Calcutta.

20. Studies in Vedantism By K C Bhattacharya, Calcutta University.

*****